

# कुलसी प्रज्ञा

अनुसंधान-त्रैमासिकी

जुलै ३ सित- ७२



जैन विश्व भारती संस्थान, लाडनूं-३४१३०६  
मान्य विश्वविद्यालय

# तुलसीप्रज्ञा—त्रैमासिक अनुसंधानपत्रिका

खण्ड-१८]

शुल्क

[सन् १९६२-६३

वार्षिक

प्रति अंक

आजीवन

४५)

२०)

५००)

पांच वर्षों के लिए—२००) और दस वर्षों के लिए—४००) रुपये  
शोधकर्त्ता विद्वान् और छात्रों के लिए वार्षिक २५) रुपये में देय

- ० 'तुलसी प्रज्ञा' प्रतिवर्ष—मार्च, जून, सितम्बर और दिसम्बर माह के तीसरे सप्ताह में प्रकाशित होती है।
- ० प्रकाशनार्थ लेख इत्यादि कागज के एक ओर टंकण कराके भेजें। साधारणतया दस पृष्ठों से बड़ा लेख न हो। जरूरी हो तो विवेच्य विषय दो भागों में विभाजित किया जा सकता है।
- ० लेख मौलिक और अप्रकाशित होना जरूरी है। कृपया ऐसा कोई आलेख भी न भेजें जो प्रकाशनार्थ अन्यत्र भेजा गया हो अथवा भेजा जाना हो।
- ० 'सम्पादक-मण्डल' द्वारा लेखादि में काट-छांट सम्भव है किन्तु भाव और मंशा को सुरक्षित रखा जावेगा। दुर्लभ फोटो और रेखाचित्र मुद्रित हो सकते हैं।
- ० प्रकाशन-स्वीकृति दो माह के भीतर भेज दी जाती है। अस्वीकृत लेख लौटाने संभव नहीं होंगे। अतः प्रतिलिपि सुरक्षित रख लें।
- ० लेखादि हिन्दी अथवा अंग्रेजी भाषा में निबद्ध हो सकते हैं; किन्तु आगम और प्राकृत, संस्कृत आदि ग्रन्थों से उद्धरण देवनागरी लिपि में लिखें और उद्धृत-ग्रंथों के संस्करण और प्रकाशन-स्थान भी सूचित करें।
- ० समीक्षा और समालोचना के लिए प्रत्येक ग्रंथ की दो-दो प्रतियां भेजें।
- ० सभी प्रकार के पत्र-व्यवहार के लिए—'सम्पादक, "तुलसी प्रज्ञा" जैन विश्व भारती संस्थान, लाडनू-३४१३०६' को संबोधित करना चाहिए।

संपादक

डॉ० परमेश्वर सोलङ्की

# दुर्लभा प्रज्ञा

खण्ड १८

जुलाई-सितम्बर, १९६२

अंक २

## अनुक्रमणिका

१. संपादकीय—अणुव्रत प्रस्तोता का ५७ वां पाटोत्सव	
२. काल का स्वरूप और उसके अवयव	७९
३. सांख्य दर्शन और गीता में 'प्रकृति'—एक विवेचन	८७
४. जटासिहनन्दि का वराङ्गचरित और उसकी परम्परा	९३
५. 'वसंतविलास' में वर्णित ऐतिहासिक तथ्यों का महत्त्व	१०७
६. प्राकृत भाषा के कतिपय अवयव	११७
७. "जैन द्रव्य सिद्धांत"—परिचय और समीक्षा	१२३
८. जैन वाङ्मय में उपलब्ध लब्धियों के प्रकार	१३१
९. संस्कृत-शतकपरम्परा में आचार्य विद्यासागर के शतक एक परिचय	१४५
१०. तेरापंथ के आधुनिक राजस्थानी संत-साहित्यकार (३)	१५१
११. पुस्तक समीक्षा	१५७

## English section

1. The Great Pilgrim Acharyashree Tulsi	45
2. 200 Years of Terapanth	48
3. A Survey of Prākrit and Jaina Studies in India and Outside	49
4. Economic Growth Versus Environmental Quality	83
5. Book Review	86

नोट—इस अंक में प्रकाशित लेखों में व्यक्त विचार लेखकों के हैं। यह आवश्यक नहीं है कि सम्पादक-मंडल अथवा संस्था को वे मान्य हों।

## अणुव्रत-प्रस्तोता का ५७वां पाटोत्सव

आचार्य तुलसी सन् १९३६ की २६ अगस्त (भाद्रपद शुक्ल नवमी) को पाट विराजे। इससे पूर्व १२ वर्ष तक गुरु-शिक्षा ली और अपनी आत्मशक्ति में असाधारण विकास किया। पुनः १२ वर्ष तक अपने शिष्य-परिवार के साधु-साधिवर्यों के कल्याण हेतु गहन चिन्तन किया और अपने गुरु कालूगणी की जन्म तिथि फाल्गुन शुक्ल द्वितीया (मार्च-१, १९४९) को 'अणुव्रती संघ' का गठन हुआ।

'अणुव्रती संघ'—निर्माण का विचार सरदारशहर और फतेहपुर के प्रवासी में जन्मा। सन् १९४६ की फरवरी में आचार्यश्री सरदारशहर में विराज रहे थे। वहां सेठ छोगमल चोपड़ा और सेठ नेमचंद एम. एल. ए. (बीकानेर) आदि के निमन्त्रण पर एच. मेरी स्पेन्स (धर्मपत्नी सर पेट्रिक स्पेन्स, सी. बी. ई., प्रधान न्यायाधीश, भारत सरकार) और कुमारी एम. शेफर्ड (मुख्य संघटक, सामाजिक स्वास्थ्य, नैतिकता और सदाचार सभा, भारत) सरदारशहर आईं और उन्होंने आचार्यश्री से नैतिकता, सदाचार और कानून-व्यवस्था संबंधी अनेकों प्रश्न पूछे। फतेहपुर में पुनः प्रश्नोत्तर हुए।

उक्त प्रश्नोत्तरों की छाया राजगढ़, रतनगढ़ और छापर के अगले चातुर्मासों पर छाई रही। सन् १९४९ की जनवरी में मर्यादा-महोत्सव राजलदेसर में हुआ। वहां भी चिन्तन जारी रहा। चार फरवरी को वहां पेरिस (फ्रांस) के संस्कृत प्रोफेसर रेणु पधारे। २४ फरवरी को आचार्यश्री सरदारशहर पहुंचे। २५ फरवरी को वहां अखिल भारतीय विधान परिषद् के सदस्य मिहिर बन्धोपाध्याय एम. पी. आचार्यश्री

के दर्शनों को आये और उसी दिन बुजुर्गों को संबोधित करते हुए आचार्यश्री ने कहा—

“पहले का समय अब आज नहीं रहा। वृद्ध कहते हैं—युवक उच्छृंखल हैं। माता पिता की आज्ञा में नहीं चलते हैं और युवक कहते हैं—वृद्ध रूढ़िवादी हैं, जर्जर हैं। पुरानी रीतियों में पलते और जिद्द करते हैं। दोनों की बातें ठीक हैं। युवकों को अपनी उच्छृंखलता छोड़कर हर एक काम धैर्य और नम्रता से करना चाहिए और बुढ़ों को भी अपनी खराब बातें छोड़कर अच्छाई का आदर करना चाहिए। तब ही साम्य हो सकता है। मैंने भी ११ वर्ष के शासन में यह अनुभव किया है कि आखिर युवक धार्मिक भावनाओं से दूर क्यों होते जा रहे हैं? तो सोचा—युवक क्रान्ति चाहते हैं।”

इससे पूर्व ‘भारतीय विज्ञान और विश्वशांति’ विषय पर आचार्यश्री का अहिंसा-अणुव्रत-संदेश १६, दिसम्बर १९४८ को जनपथ (१.१७) में छप चुका था—

“पूर्वाचार्यों ने संकल्पी हिंसा छड़ाने के लिए मध्यममार्ग का उपदेश किया। पूर्व दोनों प्रकार की हिंसाएं बन्धन अवश्य हैं, पर व्यापक अशांति की हेतु नहीं बनतीं। संकल्पी हिंसा सामूहिक अशांति को जन्म देती है। इसको त्यागने का नाम अहिंसा-अणुव्रत है।

इसमें आरम्भी और विरोधी हिंसा का भी यथाशक्ति परिमाण करना आवश्यक है। अन्यथा वे भी बढ़ती-बढ़ती संकल्पी के रूप में परिणत हो जाती हैं। पूर्ण अहिंसा तक नहीं पहुंचने वाले व्यक्तियों के लिये अणुव्रत एक सुन्दरतम विधान है। इससे गृहस्थ-जीवन के औचित्य-संरक्षण में भी बाधा नहीं आती और हिंसक वृत्तियां भी शांत हो जाती हैं।”

अप्पणा सच्च मेसेज्जा  
मेत्ति भूएसु कप्पए

अर्थात् सत्य के अन्वेषण में लगे आचार्यश्री ने प्राणी मात्र के प्रति मैत्री भाव रखने की प्रवृत्ति के साथ शास्त्रों को देखा और पाया—

जो समो सब्ब भूएसु तसेसु थावरेसु य ।  
तस्य सामाइयं होइ ईइ केबलि भासियं ॥

—कि त्रस और स्थावर, छोटे और बड़े, सूक्ष्म और स्थूल—सब जीवों पर जो समता और सम्भावना रखी जाती है, वही अहिंसा है, वही सामयिक है—यह तत्त्वदर्शी महर्षियों का उपदेश है। आचार्यश्री ने इसी उपदेश को अणुव्रत का नाम दिया।

२८ फरवरी, १९४९ को अणुव्रत पर आचार्यश्री का पहला उद्बोधन हुआ—

“जो व्यक्ति स्वयं उन्नत है, वही दूसरों को संघटित करने तथा उनमें क्रान्ति लाने में सफल हो सकता है। जन जागृति के पूर्व अपनी आत्म जागृति

आवश्यक है, जिसके लिए अब मैदान खुला है। 'अणुव्रती संघ' सामने है।

युवक पहले कहा करते थे, आध्यात्मिक जीवन साधुओं में ठीक है। गृहस्थ में उसका कोई असर नहीं। वह समय अब नहीं रहा। या तो युवक इस नवीन क्रांति का साथ दे या क्रान्ति की थोथी बातें करना छोड़ दे।”

एक मार्च, १९४९ को 'अणुव्रती संघ' का विधिवत उद्घाटन हुआ। कुल ११३ पुरुष और ७१ महिलाएं संघ की सदस्य-सदस्याएं बनीं। इनमें ६१ दम्पतियों ने ब्रह्मचर्य-अणुव्रत भी अपनाया। यह एक नयी क्रांति का सूत्रपात था। सन् १९५० के जयपुर-चातुर्मास में इस क्रांति को प्रसार मिला। तीस अप्रैल सन् १९५० को जब अणुव्रती संघ का प्रथम अधिवेशन पुरानी दिल्ली के टाऊन हॉल पर हुआ तो यह क्रांति सार्वजनिक हो गई। पी. टी. आई. और ए. पी. आई. समाचार एजेंसियों ने अणुव्रत-अधिवेशन की खबरें प्रसारित कीं। इस अधिवेशन में छह सौ पच्चीस व्यक्तियों ने व्रत ग्रहण किये। 'हिन्दुस्तान टाइम्स', 'हिन्दुस्तान स्टैंडर्ड', 'आनन्द बाजार पत्रिका', 'हरिजन सेवक' आदि समाचार-पत्रों में व्रत ग्रहण की रिपोर्टें छपीं। 'स्टेट्स मैन' के सम्पादक सर आर्थर मूर ने आचार्यश्री का लम्बा "इन्टरव्यू" लिया और फिर आचार्यश्री का 'कान्स्टीट्यूसन क्लब' में भाषण हुआ। नौ नवम्बर सन्, १९५१ को राष्ट्रपति डॉ० राजेन्द्र प्रसाद के विशेष निमंत्रण पर आचार्यश्री राष्ट्रपति भवन पधारे और चौदह नवम्बर को प्रधानमंत्री पं० जवाहर लाल नेहरू को दर्शन देने गए।

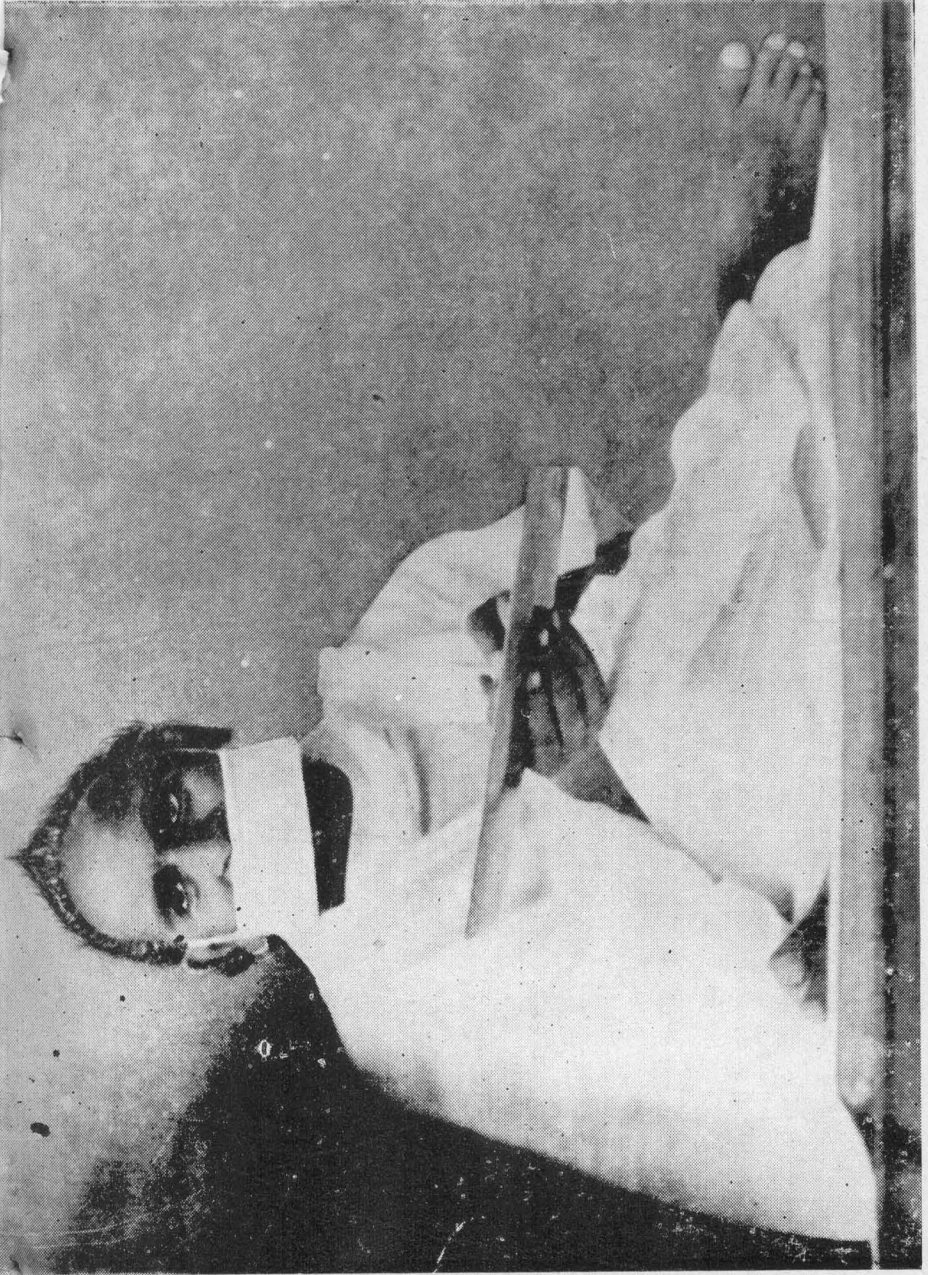
इस प्रकार अणुव्रत का विचार, मंत्र बन कर चौरफ—देश विदेश में, सर्वत्र फैल गया। उसके विस्तार और प्रसार की गति को न्यूयार्क (अमेरिका) के 'टाइम'—समाचार पत्र में १५ मई, सन् १९५० को छपे इस समाचार से अनुमान किया जा सकता है—

### एटोमिक बम

अन्य अनेक स्थानों के कुछ व्यक्तियों की तरह एक दुबला, ठिगना, चमकीली आंखों वाला भारतीय संत संसार की वर्तमान स्थिति के प्रति अत्यन्त चिन्तित है। ३४ वर्ष की आयु का यह आचार्य तुलसी है, जो जैन तेरापथ समाज का आचार्य है। यह अहिंसा में विश्वास करने वाला धार्मिक समुदाय है। आचार्य तुलसी ने सन् १९४९ में 'अणुव्रती संघ' की स्थापना की थी।.....जब वे समस्त भारत को व्रती बना चुकेंगे तब शेष संसार को भी व्रती बनने की उनकी योजना है।

दरअसल आचार्यश्री तुलसी का जीवन सोद्देश्य है। वह युगधर्म के प्रवर्तक आचार्य हैं। योग वाहक आचार्य हैं। जैन समन्वय की दिशा में अनवरत प्रयत्नशील होकर वे जन जन के कल्याण की कामना में लगे हैं। इसीलिये उन्होंने अणुव्रत-अभियान को प्रारंभ किया और आज जबकि उनका सतावनवां पाटोत्सव है यह आन्दोलन दिग्दिगन्त व्यापी हो रहा है।

—परमेश्वर सोलंकी



सन् १९५० के जयपुर-चातुर्मास में अणुव्रत क्रांति का सूत्रपात करते हुए आचार्यश्री तुलसी ।





## काल का स्वरूप और उसके अवयव\*

□ डॉ० परमेश्वर सोलङ्की

अथर्ववेद में काल की व्याख्या प्राप्त होती है। वहाँ उन्नीसवें काण्ड में दो सूक्त (५३-५४) इस प्रकार हैं—

१. कालो अश्वो वहति सप्तरश्मिः सहस्राक्षो अजरो भूतिरेताः । तमारोहन्ति कवयो विपश्चित्तस्तस्य चक्रा भुवनानि विश्वा ॥ स एव सं भुवनान्याभरत् स एव सं भुवनानि पर्येत् । पिता सन्नभवत्पुत्र एषां तस्माद्वैनान्यत्परमस्ति तेजः ॥ काले मनः काले प्राणः काले नाम समाहितम् । कालेन सर्वानन्दन्त्यागतेन प्रजा इमाः ॥ कालः प्रजा असृजत कालो अग्रे प्रजापतिम् । स्वयम्भूः कश्यपः कालात्तपः कालादजायत ॥

२. कालो ह भूतं भव्यं च पुत्रो अजनयत्पुरा । कालादुचः समभवत् यजुः कालाद जायत ॥ इमं च लोकं परमं च लोकं पुण्यांश्च लोकान् विधृतीश्च पुण्याः । सर्वाल्लोकानभिजित्य ब्रह्मणा कालः स ईयते परमो नृ देवः ।

—कि कालरूपी अश्व प्रभूत् सामर्थ्यवान् है। वह सदा जवान रहता है और सप्त रश्मियों से सहस्राक्ष होकर सर्वत्र चलायमान रहता है किन्तु उस पर वे मनीषी ही आरूढ हो पाते हैं, जो उसके समस्त अवयवों को जान लेते हैं। वह भुवनों का आभरण और निर्माण करने वाला है। वही पिता और पुत्र रूप में प्रकट होता है। उसी में मन, प्राण और संज्ञा समाहित होती है। उसी से सब कुछ निमित्त होता है। उसने प्रजा और प्रजापति को बनाया है। स्वयंभू कश्यप और उसका तप (संसार) भी उसी में उत्पन्न है।

काल भूत् और भविष्यत् की सृष्टि करता है। उसी से ऋग्वेद, यजुर्वेद प्रकट हुए हैं। यह लोक, परमलोक और पुण्यलोक—सभी कालरूप ब्रह्म निमित्त हैं। इसलिए यह काल परमदेव है। बृहदारण्यक उपनिषद् (१.२.४) में काल को मानव-जन्म से जोड़ा गया है। वहाँ लिखा है कि उसने इच्छा की कि मैं दूसरी आत्मा के रूप में प्रकट होऊँ ! और वह परिमित काल में प्रकट हो गया। पहले संवत्सर न था किन्तु आत्मा के इस प्रकटीकरण की अवधि-रूप “संवत्सर” बन गया, क्योंकि इस परिमित काल में आत्मा ने अपने-आपको दूसरे रूप में सृजन कर लिया।<sup>१</sup>

मंत्रोपनिषद् (६- ४-१६) में काल को प्रकारान्तर से व्याख्यायित किया गया है—

\* यह लेख की पहली कड़ी (किस्त) है।

खण्ड १८, अंक २ (जुलाई-सित०, ६२)

७९

अथान्यत्राप्युक्तं—अन्नं वा अस्य सर्वस्य योनिः । कालाश्चान्नस्य । सूर्यो योनिः कालस्य ।—एवं हि आह । कालात् स्रवन्ति भूतानि कालाद् वृद्धिं प्रयन्ति च । काले चास्तं नियच्छन्ति कालो मूर्तिरमूर्तिमान् । द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे कालश्चा काल-श्चाथ यः प्रागादित्यात्सोऽकालोऽकलोऽथ य आदित्याद्यः स कालः सकलः वा एतद्रूपं यत्संवत्सरः संवत्सरात्खल्विमाः प्रजाः प्रजायन्ते संवत्सरेणेह वै जाता विवर्धयन्ते संवत्सरे प्रत्यस्तं यन्ति तस्मात्संवत्सरो वै प्रजापतिः कालोऽन्नं ब्रह्म नीडमात्मा चेत्येवं हि आह ! कालः पचति भूतानि सर्वाण्येव महात्मनि । यस्मिंस्तु पच्यते कालो यस्तं वेद स वेदवित् ।<sup>१</sup>

जैसा कि अन्यत्र भी कहा गया है, सबकुछ का स्रोत अन्न ही है । अन्न का स्रोत काल है । काल का स्रोत सूर्य है । इस प्रकार समस्त पदार्थ काल से पैदा होते हैं । काल से वृद्धि पाते हैं । काल में ही विलीन हो जाते हैं । दूसरे शब्दों में—काल ही अपने को मूर्त और अमूर्त करता रहता है ।

ब्रह्म के दो रूप हैं । एक काल और दूसरा अकाल । सूर्य-निर्माण से पूर्व का ब्रह्म रूप अकाल है जिसकी कोई अवधि (कला) नहीं किन्तु सूर्य-निर्माण के बाद का काल सावयव है । उसका अवयव (कला) संवत्सर है । संवत्सर में समस्त प्रजा पैदा होती है । संवत्सर में ही बढ़ती है । संवत्सर में ही विलोप होती है । संवत्सर प्रजापति है, काल है, अन्न है, ब्रह्मा है और आत्मा है । इसीलिये कहा जाता है कि काल सभी को पचाता है, किन्तु जिसमें काल पचता है, उसे जो जानता है वही ज्ञानी, वेदवित् होता है ।

महाभारत के आदि पर्व (१.२४८-२५०) में इसी बात को यूनं कहा गया है—

कालः स्रजति भूतानि कालः संहरेते प्रजाः ।

संहन्तं प्रजाः कालं कालः शमयते पुनः ॥

कालो हि कुरुते भावान् सर्वं लोके शुभाशुभम् ।

कालः संक्षिपते सर्वाः प्रजाविसृजते पुनः ॥

कालः सुप्तेषु जागति कालो हि दुरतिक्रमः ।

कि काल प्राणियों का सृजन करता है और काल ही उन्हें मारता है । काल को उसकी प्रजा मारती है और काल शांत हो जाता है । सब लोकों के शुभाशुभ भावों को काल बनाता है । वह सब कुछ को समेटता है और पुनः बखेरता है । इस प्रकार काल सदैव जागृत रहता है, इसलिये उसकी गति को समझना बहुत कठिन है । वह दुरतिक्रम है ।

योग सूत्र (३.५२) में काल की किञ्चित् भिन्न पर दिलचस्प व्याख्या है । 'क्षण तत् क्रमयोः संयमाद्विवेकजं ज्ञानम्'—इस सूत्र पर भाष्यकार लिखता है—

यथा अपकर्षपर्यन्तं द्रव्यं परमाणुरेवं परमापकर्षपर्यन्तं कालः क्षणो यावता वा समयेन चलितः परमाणुः पूर्वदेशं जह्याद्दुत्तरदेशमुपसंपद्येत स कालः क्षणः तत्प्रवाहाविच्छेदस्तु क्रमः क्षण तत्क्रमयो नास्ति वस्तु समाहार इति । बुद्धि समाहारो मुहूर्ताहोरात्रादयः । स खल्वयं कालो वस्तु ज्ञान्योऽपि बुद्धिनिर्माणः

शब्द ज्ञानानुपाती लौकिकानां व्युत्थित दर्शनानां वस्तु स्वरूप इवावभासते । क्षणस्तु वस्तुपतितः क्रमावलम्बी । क्रमश्च क्षणानन्तर्यात्मा तं कालविदः काल इत्याचक्षते योगिनः । न च द्वौ क्षणौ सह भवतः । क्रमश्च न द्वयोः सहस्रबुधोर-सम्भवात् पूर्वस्माद्भुत्तरस्य भाविनो यदानन्तर्ये क्षणस्य स क्रमः । तस्माद्द्वत्तमान एवैकः क्षणः न पूर्वोत्तरक्षणाः सन्तीति तस्माद्भास्ति तत्समाहारः । ये तु भूतं भाविनः क्षणास्ते परिणामान्धिता व्याख्येयास्तेनैकेन क्षणेन कृत्स्नो लोकः परिणाम मनुभवति तत्क्षणीपारूढाः खल्वमी सर्वे धर्मा स्तयोः क्षण तत्क्रमयोः संयमात् तयोः साक्षात्करणं ततश्च विवेकजं ज्ञानं प्रादुर्भवति ।

द्रव्य का अपकर्ष परमाणु है और उसका काल्पनिक परम अपकर्ष क्षण । परमाणु के एक स्थान से दूसरे स्थान पर पहुँचने की अवधि क्षण है और उसका जाना-अना क्रम । इस क्रमिक क्षण का समाहार मुहूर्त, अहोरात्रादि है । दूसरे शब्दों में काल, वस्तु नहीं, केवल क्षण का क्रम है, क्योंकि योग शास्त्र अनुसार दो क्षणों का कभी समाहार नहीं होता ।

जिस प्रकार बेश के अत्यंत सूक्ष्मतम अवयव की परमाणु संज्ञा है, उसी प्रकार काल का सूक्ष्मतम अंश क्षण है । क्षण, वस्तु के परिणामक्रम से लक्षित होता है । वह धारा रूप में प्रवाहित होता है । अतः क्रमावलम्बी क्षण ही वास्तविक पदार्थ है और कालवेत्ता उसके क्रम को ही काल कहते हैं । इस प्रकार, इस क्षण और क्रम को जो जान लेता है, उसे विवेकज ज्ञान हो जाता है ।

सूर्य सिद्धांत (१. १०-११) में काल के दो प्रकार बताए गए हैं—

लोकानामन्तकृत्कालः कालोन्य कलनात्मकः ।

स द्विधा स्थूल सूक्ष्मत्वान्मूर्त्तश्चामूर्त्त उच्यते ॥

प्राणादिः कथितो मूर्त्तस्त्रुट्याद्योऽमूर्त्त संज्ञकः ।

षड्भिः प्राणैर्विनाडो स्यात् तत्षट्प्या नाडिका स्मृता ॥

नाडी षट्प्या तु नाक्षत्रमहोरात्रं प्रकीर्तितम् ॥

कि काल लोक का विनाशकर्ता और संगणक होने से स्थूल-सूक्ष्म (मूर्त्त-अमूर्त्त) दो प्रकार का है । जैसे प्राणादि मूर्त्त हैं और त्रुटि आदि गणना अमूर्त्त है ।

चरक संहिता (१. ४८०) ने काल को नौद्रव्यों में गिना है किन्तु सुश्रुत संहिता (२-३-५) में काल स्वयंभू है । उसका आदि, मध्य और अन्त नहीं होता । वह पदार्थों की बलवत्ता और निर्वीर्यता का कारण होता है । उसी से मनुष्यों में जीवन-मरण होता है ।

यह काल है क्योंकि सूक्ष्मतम कला (अवधि) में भी वह लय नहीं होता, किंतु सब कुछ को अपने में विनय कर लेता है । संवत्सर होकर यही काल सूर्य की गति विशेष से पलक भ्रमने (निमेष) से काष्ठा, कला, मुहूर्त, अहोरात्र, पक्ष, मास, ऋतु, अयन आदि में विभक्त हो जाता है ।<sup>१</sup>

खण्ड १८, अंक २ (जुलाई-सित०, ६२)

८१

इसी प्रकार पाणिनि सूत्र (२-२-५) पर भाष्य करते हुए पतंजलि कहते हैं कि जिससे मूर्तियों का उपचय और अपचय लक्षित हो वह काल है। सूर्य की गति से युक्त होने पर वह दिनरात की संज्ञा पाता है और सूर्यगति की अनेकशः आवृत्ति सम्पन्न होने पर म स और संबत्सर का अभिधान पा लेता है।

सर्वांश में काल एक है परन्तु उपाधि के कारण अनेकविध होता है। उपाधि सूर्य की क्रिया है जिसके लिए शीघ्रता-विलंबित, भूत् वर्तमान भविष्य, क्षण-मुहूर्त-दिनरात-पक्ष-मास-संबत्सर-युग आदि की कल्पना की गई है। भर्तृहरि के शब्दों में काल वह द्रव्य है जो क्रिया से सर्वथा पृथक् पर सब कुछ में समाया हुआ है। इस प्रकार सर्वत्र, वह उत्पत्ति का कारण है और जैसे एक ही पुरुष कर्म विशेष करने से शिल्पकार, लौहार आदि संज्ञा पा लेता है, वैसे ही काल भी अलग-अलग अभिधान पा लेता है।

### मान और अवयव

महानारायण उपनिषद् (१-८) और वाजसनेयी संहिता (३२-२) में लिखा है, कि—“सर्वे निमेषा जज्ञिरे विद्युतः पुरुषादधि”—अर्थात् निमेष आदि समस्त कालावयव विद्युत् पुरुष से पैदा हुए हैं। बृहदारण्यक उपनिषद् (३-८-९) भी कहता है कि उस अक्षर के प्रशासन में जैसे सूर्य और चन्द्रमा को पृथक्-पृथक् रखा गया है, वैसे ही निमेष, मुहूर्त आदि को भी पृथक्-पृथक् रखा गया है।<sup>५</sup>

महानारायण उपनिषद् में ही काल के विभागों की—निमेष, कला, मुहूर्त, काष्ठा, अहोरात्र, पक्ष, मास, ऋतु आदि के रूप में गणना भी दी गई है। मनुस्मृति (१-६४) में इनका मान दिया है—१८ निमेष=१ काष्ठा; ३० काष्ठा=१ कला; ३० कला=१ मुहूर्त; ३० मुहूर्त=१ अहोरात्र। वायु पुराण (५७.६) और विष्णु धर्मोत्तर (१-७३) पुराण में निमेष को लघु अक्षर तुल्य कहा गया है<sup>६</sup>—

लघ्वक्षर समा मात्रा निमेषः परिकीर्तितः ।

अतः सूक्ष्मतरः कालो नोपलभ्यो भृगूत्तम ॥

अर्थशास्त्र (२-२०) में निमेष से भी अधिक सूक्ष्म कालमान दिया है जो इस प्रकार है—

कालमानमत ऊर्ध्वम् । ऋटो लवो निमेषः काष्ठा कला नाडिका मुहूर्तः पूर्वा-परमागौ दिवसो रात्रिः पक्षो मास ऋतुरयनं संबत्सरो युगमिति कालाः । द्वौ ऋटो लवः । द्वौ लवो निमेषः । पंच निमेषाः काष्ठा । त्रिंशत्काष्ठाः कला । चत्वारिंशत्कलाः नाडिका । द्वि नाडिका मुहूर्तः । पंचदश मुहूर्तो दिवसो रात्रिश्च । चैत्रे मास्याश्च युजे मासे च भवतः ।

वायुपुराण (५०-१६९ और ५७-७), मत्स्य (१४२-४), विष्णु (२.८.५९), ब्रह्माण्ड (२-२९-६) और महाभारत (शा० २३२-१२) में यह मान कुछ भिन्न है—

काष्ठा निमेषादश पंच चैत्र त्रिंशच्च काष्ठा गणयेत्कलास्ताः ।

त्रिंशत्कलाश्चैव भवेन्मुहूर्तस्तत्रिंशता रात्र्यहनी समेते ॥

श्रीमद्भागवत पुराण (३-२-३-१०) में दिया कालमान नीचे अनुसार है—  
 दो परमाणु=१ अणु; ३ अणु=१ त्रसरेणु  
 तीन त्रसरेणु एक त्रुटि; १०० त्रुटि=१ वेध  
 तीन वेध=एक लव; तीन लव=१ निमेष  
 तीन निमेष=एक क्षण; पांच क्षण=१ काष्ठा  
 १५ काष्ठा=एक लघु; १५ लघु=१ नाडिका  
 दो नाडिका=एक मुहूर्त्त, ३० मुहूर्त्त=१ अहोरात्र ।

### न्यूनतम अवयवः मुहूर्त्त

पलक भ्रमने अथवा लघु अक्षर उच्चारण को न्यूनतम कालांश कहा गया है किन्तु व्यवहार में मुहूर्त्त ही सबसे छोटी कालावधि होती है । 'मुहूर्त्त'—शब्द ऋग्वेद में कई स्थानों पर प्रयुक्त है । 'मुहूर्त्त' की निरुक्ति करते हुए यास्क मुनि कहते हैं—

मुहूर्त्तम् एवः अयनैः अवर्तैर्वा ।

मुहूर्त्तः महः ऋतुः । ऋतु अर्ते गति कर्मणः ।

मुहुः मूढः इव कालः ।

अर्थात् मुहूर्त्त बहुत छोटा समय है जो मुहुः और ऋतुः से निरुक्त होता है । ऋग्वेदीय वेदांग ज्योतिष में एक मुहूर्त्त का मान दो नाडिका तुल्य है किन्तु कौषीतकि उपनिषद् (१-३) में लिखा है—“तस्य ह वा एतस्य ब्रह्मलोकस्यारो हृदः । मुहूर्त्तं येषिहाः—”कि मुहूर्त्त का ही दूसरा नाम येषिका है ।

ऋग्वेद में 'मुहूर्त्त' शब्द (३-३३-५) शुतुद्री (सतलुज) और विपाशा (व्यास) नदी के मिलन क्षण को बताने के लिए प्रयुक्त है । दूसरे स्थल पर (३-५३-८) 'परिमुहूर्त्त' का प्रयोग प्रातः सवन, माध्यन्दिन सवन और तृतीयसवन के मध्य किञ्चित् विश्राम को बताने के लिए हुआ है ।

शतपथ ब्राह्मण (१-८-३-१७ और २-३-२५) में भी 'मुहूर्त्त' का थोड़े समय के अर्थ में प्रयोग है । वहाँ (१०-४-२-१८ और १२-३-२५) दिन और रात में पन्द्रह-पन्द्रह मुहूर्त्त और वर्ष में (३० × ३६० =) १०८०० मुहूर्त्त होने का भी विवरण उपलब्ध है ।

तैत्तिरीय संहिता (३-१०-१-३) में दिन और रात के पन्द्रह-पन्द्रह मुहूर्त्तों के नाम दिए हैं जो इस प्रकार हैं—

१. चित्रः	९. तपन
२. केतुः	१०. अभितपन्.
३. प्रमान्,	११. रोचनः
४. आभान्,	१२. रोचमानः
५. संभान्,	१३. शोमनः
६. ज्योतिष्मान्	१४. शोभमानः और
७. तेजस्वान्	१५. कल्याण
८. आतपन्,	

ये दिन के मुहूर्त हैं और रात के मुहूर्त इस प्रकार हैं—

१. दाता,	९. संशान्तः
२. प्रदाता	१०. शास्तः
३. आर्नद,	११. आभवन्,
४. मोदः	१२. प्रभवन्
५. प्रमोदः	१३. संभवन्
६. आवेशयन्,	१४. संभूतः और
७. निवेशयन्.	१५. भूतः ।
८. संवेशनः	

ऋग्वेद और यजुर्वेद के वेदांग ज्योतिषों में बताया गया है कि वर्ष के सबसे छोटे और सबसे बड़े दिन में छह मुहूर्तों का अवान्तर होता है किन्तु मनु (१-६४) और कौटिल्य अर्थ शास्त्र (२-२०) में केवल दिन रात के तीस मुहूर्त ही लिखे हैं। और ऋग्वेद (१०-१८९-३) और अथर्ववेद (६-३१-९) में प्रयुक्त "त्रिंशद्धाम"—शब्द का भी अर्थ अहोरात्र के तीस मुहूर्त ही होना बताया गया है। □

क्रमशः

### संदर्भ

१. सोऽक्रामयत द्वितीयो म आत्मा जायेतेति.....।

न पुरा ततः संवत्सर आस । तमेतावन्तं कालमविभः ।

यावन्संवत्सरः । तमेतावतः कालस्य परस्तादसृजत ।

२. मिलवें—तैत्तिरीय उपनिषद् (३-९): 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति । यत्प्रयन्त्यमि संविशन्ति तद् विजिज्ञासस्व तद् ब्रह्मे ति ॥'

३. कालो हि नाम स्वयम्भूरनादि मध्य निधनः । अत्र रस व्यापत्सम्पत्ती जीवन मरणे च मनुष्याणामायते । स सूक्ष्माणि कलां न लीयत इति कालः संकलयति कालयति वा भूतानीति कालः । तस्य संवत्सरात्मनो भगवानादित्योगति विशेषणा-क्षिनिमेष काष्ठा कला मुहूर्ताहोरात्र पक्ष-पक्ष मासत्वयंन संवत्सर युग प्रविभागं करोति । तत्र लघ्वक्षरोच्चारण मात्रोऽक्षिनिमेषः । पंच दशाक्षि निमेषाः काष्ठास्त्रिंशत्काष्ठाः कला विंशतिकलो मुहूर्तः कलादशभाश्च त्रिंशन्मुहूर्तमहोरात्रं पंचदशमहोरात्राणि पक्षः ।

४. व्यापाख्यति रेकेण कालमेके प्रचक्षते ।

नित्यमेकं विभु द्रव्यं परिमाणं क्रियावताम् ॥

उत्पतौ च स्थितौ चैव विनाशे चापि तद्वताम् ।

निमित्तं काल मेवाहुर्विभक्तेनात्मना स्थितम् ॥

क्रिया भेदाद्यथैक सिमं स्तक्षद्याख्या प्रवर्तते ।

क्रिया भेदात्तर्यकस्मिन्नु त्वाद्याख्योपजायते ॥

—वाक्य प्रदीप (प्रकीर्णक)

५. एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गी !

सूर्या चन्द्रमसौ विधृतौ तिष्ठतः—

एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गी !

निमेषा मुहूर्ता अहोरात्रार्धमासा ऋतवः संवत्सरा इति विधृतात्तिष्ठन्ति ।

६. पिछले दिनों में नई दिल्ली से (सन् १९८८ में) प्रकाशित—“मात्रालक्षणम्” नामक ग्रंथ में—“सामस्वर्धमात्रमणुमात्रं च”—सूत्र की व्याख्या में कहा गया है कि अर्द्ध मात्रा का (लघु अक्षर उच्चारण काल) अणुमात्र होता है ।

७. (I) रमध्वं मे वचसे सोम्याय ऋ तावरीरूप मुहूर्त्तं मेवैः ।

(II) रूपं-रूपं मघवा बोमवीति मायाः कृण्वानस्तन्वं परिस्थाम् ।

त्रिर्यद्विः परिमुहूर्त्तं भागात्स्वै मन्त्रैरनृतु पा ऋतावा ॥

८. (I) तन्मुहूर्त्तं धारयित्वा ।

(II) अथ प्रातः अनशित्वा मुहूर्त्तं सभायाम् आसित्वापि

(III) स पंचदाह्यो रूपाण्यपश्यदात्मनस्तन्वो मुहूर्तो लोकमृणाः पंच दशैव रात्रेस्तद्यन्मुहु स्त्रायन्ते तस्मान्मुहूर्ताः ।

(IV) दशत्रै सहस्राण्यष्टौ च शतानि संवत्सरस्य मुहूर्ता यावन्तो मुहूर्ता स्तावन्ति पंचदशकृत्वः क्षिप्राणि यावन्ति क्षिप्राणि तावन्ति पंचदशकृत्व एतर्हीणि ॥

९. आयवर्णं ज्योतिष (१-६-११) में दिन के १५ मुहूर्त्त इस प्रकार हैं— १. रोद्र, २. श्वेत, ३. मैत्र, ४. सारभट, ५. सावित्र, ६. विराज, ७. बिहवावसु, ८. अभिजित् ९. रोहिण, १०. बल, ११. विजय, १२. नैऋत, १३. वारूण, १४. सौम्य, १५. भग ।

वायुपुराण (६६-४०-४२) में भी दिन के मुहूर्तों के नाम हैं जो किंचित् भिन्न हैं । वे इस प्रकार हैं—

रोद्रः श्वेत स्तथा मैत्रः पित्र्यो वासव एव च ।

आप्योथ वैश्वदेवश्च ब्राह्मो मध्याह्न संश्रितः ॥

प्राजापत्यस्तथा ऐन्द्र स्तेन्द्रो निऋतिस्तथा ।

वारूणश्च तथार्यम्णो भाग्यश्चापि दिनाश्रिताः ॥

□

## अवसर्पिणी-उत्सर्पिणी काल विभाग

कालोऽवसर्पिणीत्येक उत्सर्पिण्यपरोऽपिच ।  
 एते समाहृते कल्पो विभागा द्वादशानयोः ॥  
 सुषमासुषमान्ता च द्वितीया सुषमेति च ।  
 सुषमा दुःषमान्तान्या सुषमान्ता च दुःषमा ॥  
 पंचमी दुःषमेत्येव समा षष्ठ्यतिदुःषमा ।  
 विभागा अवसर्पिण्यामितरस्यां विपर्ययः ॥  
 चतस्रश्च ततस्त्रिंशो द्वे च तासां क्रमात् स्मृताः ।  
 सागरोपमकोटीनां कोटयो च तिसृणामपि ॥  
 द्विचत्वारिंशतान्यूना सहस्रं रब्द संख्यया ।  
 कोटीकोटी भवेदेका चतुर्थ्या तु प्रमाणतः ॥  
 पंचम्यब्द सहस्राणामेकविंशति रेव सा ।  
 तावदेव समा षष्ठी कोटीकोट्यो दशवताः ॥

अर्थात् एक अवसर्पिणी और दूसरा उत्सर्पिणी इस प्रकार से सामान्यरूप से काल के दो भेद हैं। इन दोनों को सम्मिलित रूप में कल्प कहा जाता है। दोनों में बारह विभाग हैं। सुषमासुषमा, सुषमा, सुषमादुःषमा, दुःषमासुषमा, दुःषमा और अतिदुःषमा—ये छह अवसर्पिणी काल के और इनके विपरीत उत्सर्पिणी काल के छह विभाग होते हैं।

इनमें प्रथम तीन कालों का प्रमाण यथाक्रम से चार, तीन और दो कोड़ाकोड़ि सागरोपम माना गया है। चतुर्थ काल का प्रमाण ४२ सहस्र अब्द कम कोड़ाकोड़ि सागरोपम तथा पांचवे का प्रमाण २१ सहस्र अब्द मात्र है। इतना ही छठे विभाग का भी काल है।

इस प्रकार छहों विभागों का काल दश कोड़ाकोड़ि सागरोपम बनता है।

—लोक विभाग (५. २-७)से

नोट : यह कालमान एक हजार समा तुल्य हो सकता है। अर्थात् सुषमा-  
 सुषमा=४००+सुषमा=३००+सुषमादुःषमा=२००+दुःषमासुषमा=  
 ५८+दुःषमा=२१+अतिदुःषमा २१=१००० अथवा कोटी  
 कोट्योदरु ।

—संपादक



## सांख्य दर्शन और गीता में 'प्रकृति'-एक विवेचन

□ डॉ० कमला पंत

[लेखिका का विगत अंक में 'षड्आस्तिक एवं वौद्धदर्शनों में मान्य कर्मवाद से जैनसम्मत कर्मवाद की विशिष्टता'—शीर्षक लेख छपा था। प्रस्तुत लेख में उसने सांख्य दर्शन और गीता में प्रयुक्त 'प्रकृति' तत्त्व का सूक्ष्म विवेचन किया है।

उसके विवेचन से इस ऐतिहासिक तथ्य का भी उद्घाटन होता है कि गीता में सांख्य और वैशेषिक-चिन्तन से पूर्व का सिद्धांत है किन्तु वह उत्तरोत्तर विकसित होता चला आया है।

—सम्पादक]

सांख्य दर्शन एवं गीता में समस्त अचेतन जगत् की रचना करने वाले तत्त्व के लिए "प्रकृति" शब्द प्रयुक्त है। सामान्यतः दोनों दर्शनों में स्वीकृत प्रकृति शब्द, स्वरूप एवं कार्य की दृष्टि से एक ही तत्त्व प्रतीत होता है किन्तु दोनों में अन्तर है—प्रस्तुत लेख में उसकी तुलनात्मक विवेचना की जा रही है।

सांख्यदर्शन में प्रकृति और पुरुष दो मूलतत्त्व स्वीकार किए गए हैं। यह संसार प्रकृतिमूलक है। जगत् का मूल स्वरूप सूक्ष्म प्रकृति के रूप में है जिससे जगत् के इस दृश्यमान रूप का विकास हुआ है। प्रकृति सत्त्व, रजस् एवं तमस् की साम्यावस्था है अर्थात् सत्त्व, रजस् एवं तमस् तीनों गुण जब समान दशा में रहते हैं तो प्रकृति तत्त्व कहलाते हैं। प्रकृति में इन तीनों गुणों के विद्यमान रहने के कारण समस्त सांसारिक पदार्थों में ये तीनों गुण रहते हैं। एक ही वस्तु किसी के हृदय में आनन्द, किसी के हृदय में दुःख एवं किसी (तीसरे) व्यक्ति के हृदय में मोह पैदा करती है। वही तत्त्व प्रकृति कहा जा सकता है जो विभिन्न विकारों या कार्यों के रूप में परिणत होता है। पुरुष प्रकृति न होने के कारण ही निर्विकार रहता है, किसी भी विकृति को जन्म नहीं देता। प्रकृति के तीनों गुण क्रमशः सुखदुःखमोहात्मक हैं। ये गुण परस्पर विरोधी होते हुए भी पुरुष के भोग और मोक्ष रूप प्रयोजन की सिद्धि के लिए मिलकर दीपक (दीपक में तेल, वस्ती एवं आग मिलकर प्रकाश करते हैं) के समान कार्य (क्रमशः प्रकाशन, प्रवर्तन और नियमन) करते हैं। प्रकृति जड़, एक, नित्य, संसार की जननी, निरवयव, स्वतन्त्र, व्यापक, अनाश्रित, स्वाधार, अलिग एवं अपरिमित है। इस तत्त्व को अव्यक्त, प्रधान, प्रकृति आदि भिन्न-भिन्न संज्ञायें दी गयीं हैं। इस तत्त्व

के कारण की कल्पना होने पर अनवस्था दोष हो जाता है। प्रकृति और पुरुष के संयोग से गुणक्षोभ होता है जिससे सृष्टि उत्पन्न होने लगती है।<sup>14</sup> तदनन्तर बुद्धि (महत्) अहंकार, मन, ज्ञानेन्द्रिय, कर्मेन्द्रिय, तन्मात्रा, पृथिवी-जलतेजादि पञ्च महाभूत, विभिन्न प्रकार के शरीर, बौद्धिक और भौतिक सर्ग उत्पन्न होने लगते हैं।<sup>15</sup> प्रलयकाल में समस्त तत्त्व अपने-अपने कारण में लीन होते जाते हैं और अन्त में सभी का लय प्रकृति में हो जाता है। इस प्रकार सांख्य की प्रकृति समस्त संसार की उत्पादिका है।

श्री भगवद् गीता में तीन तत्त्वों का वर्णन मिलता है— क्षर, अक्षर एवं पुरुषोत्तम। क्षर और अक्षर पुरुषोत्तम के ही अंश हैं। इनमें पुरुषोत्तम प्रधान है। इन्हें परमात्मा, ईश्वर, वासुदेव, कृष्ण, प्रभु, साक्षी, महायोगेश्वर, ब्रह्म, अधियज्ञ, विष्णु, परम पुरुष, परम अक्षर, योगेश्वर आदि भी कहते हैं। भगवान् की विभूति ही आभ्यन्तर एवं बाह्य जगत् में सर्वत्र व्याप्त है। यह सभी भूतों के जनक-संहारक, सर्वव्यापी, निर्गुण, होते हुए भी सभी गुणों के भोक्ता, अखण्ड होते हुए भी सभी जीवों में अलग-अलग विद्यमान, ज्ञानस्वरूप, जगत् के लय के कारण, त्रिगुणातीत होते हुए भी तीनों गुणों के जनक, सत्-असत् दोनों से परे, चर-अचर, दूरस्थ, अन्तिकस्थ, निमित्तादि उपाधियों से रहित, जगत् की उत्पत्ति और लय का स्थान, समस्त प्राणियों में व्याप्त एवं समस्त वस्तुओं का सार है।<sup>16</sup> जल में रस, चन्द्रमा-सूर्य में प्रकाश, वेदों में ओंकार, आकाश में शब्द, पुरुषों में पुरुषत्व, पृथिवी में गन्ध, अग्नि में तेज, प्राणियों में उनका जीवन, तपस्वियों में तप, बुद्धिमानों की बुद्धि, बलवानों का बल आदि है।<sup>17</sup> पुरुषोत्तम एक अंश से जगत् को व्याप्त कर स्थित होता है।<sup>18</sup> इसका नाम है—अपर भाव या विश्वानुग रूप, परन्तु भगवान् केवल जगन्मात्र ही नहीं हैं प्रत्युत वे इसे अतिक्रमण करने वाले भी हैं। यह अनुत्तम, अव्यय परभाव या विश्वात्मिग रूप ही उनका यथार्थ रूप है।<sup>19</sup>

यही गीता का परम गुह्यतम और विशिष्ट रूप है। इस स्वरूप के साक्षात्कर्ता भगवद्भाव को प्राप्त करते हैं।<sup>20</sup> उपनिषदों के समान गीता में भी ब्रह्म या पुरुषोत्तम को सर्वव्यापक कहा गया है। गीता में ब्रह्म शब्द निर्गुण, निराकार, सच्चिदानन्दधन परमात्मा का वाचक है—वेद, ब्रह्मा, प्रकृति आदि का नहीं। गीता में अद्वैत का रूप स्वतन्त्र एवं शाङ्कर वेदान्त से सर्वथा भिन्न है। भगवान् स्रष्टा, साधुओं के रक्षक, धर्मपालक, शुभकर्मोपदेष्टा एवं जगत् कल्याण के पथ-प्रदर्शक हैं। भगवान् माया से कभी अलग नहीं होते हैं। त्रिगुणमयी माया इनकी दैवी शक्ति है। अचिन्त्य होने से माया को सत्-असत् कुछ नहीं कहा जा सकता। स्वयं आप्तकाम होने पर भी ये कर्म से विरत नहीं होते। भगवान् से पृथक् कोई सत्ता नहीं है। सृष्टि के आदि में भगवान् संकल्प करते हैं कि "मैं एक ही बहुत हो जाऊँ" तब पुनः अर्थात् प्रलयोपरान्त जीव, जगत् आदि की रचना होती है। भगवान् का यह आदि संकल्प ही अचेतन प्रकृति रूप योनि में चेतन रूप बीज की स्थापना करता है। यही जड़-चेतन का संयोग है। इससे सब भूतों की उत्पत्ति होती है।<sup>21</sup> कर्मानुसार जीवोत्पत्ति होती है। चेतन एवं अचेतन प्रकृति या अक्षर और क्षर रूपों में पुरुषोत्तम के अंशों का वर्णन उपलब्ध होता है

क्योंकि यह स्थावर तथा जंगम विश्व भगवदाकार ही है। इसीलिए गीता भगवान् की दो प्रकृतियों को मानती है—परा और अपरा।<sup>11</sup>

परा (उत्कृष्ट) प्रकृति से तात्पर्य जीव से है। जीव चैतन्यात्मक होने से परमेश्वर की उत्कृष्ट विभूति है। आत्मा पैर से लेकर मस्तक तक होने वाले सम्पूर्ण शरीर को स्वामाविक अथवा उपदेश द्वारा प्राप्त अनुभव से विभागपूर्वक स्पष्टतः जानता है। इसलिए उसे क्षेत्र (अपरा प्रकृति) का ज्ञाता अथवा क्षेत्रज्ञ कहा जाता है। परा प्रकृति को अक्षर तत्त्व, अध्यात्म, पुरुष और क्षेत्रज्ञ कहा जाता है। परा प्रकृति (चेतन) भगवान् से अभिन्न है। अतः सम्पूर्ण जीव समुदाय भी यथार्थतः भगवान् से अभिन्न और उनका स्वरूप ही है।<sup>12</sup> वस्तुतः जीवात्मा में नपुंसकत्व या नपुंसकत्व का भेद नहीं है, इसलिए उस चेतन तत्त्व को कहीं पुल्लिग पुरुष (गीता १५।१६) और क्षेत्रज्ञ तथा कहीं नपुंसक अध्यात्म कहा गया है।<sup>13</sup> उसे स्त्रीलिंग परा प्रकृति भी कहते हैं। भगवान् की परा प्रकृति ही देहान्त के पश्चात् एक शरीर को छोड़कर दूसरे शरीर में प्रवेश करने वाली एवं इन्द्रियों के द्वारा विषयों का भोग करने वाली है। जीव एवं भगवान् में वास्तविक भेद न होने पर भी अविद्यावश जीव भगवान् से अलग दिखायी देता है। यह उपद्रष्टा, साक्षी, अनुमन्ता, कर्ता, भोक्ता, महेश्वर, परमात्मा आदि अनेक नामों से भी पुकारा जाता है। ध्यातव्य है कि यह जीव नाना न होकर एक ही है। जैसे—एक सूर्य सारे जगत् को प्रकाशित करता है वैसे ही क्षेत्रज्ञ सब क्षेत्र (देह) को प्रकाशित करता है।<sup>14</sup> क्षेत्री की सूर्य से उपमा उसकी एकरूपता का स्पष्ट प्रमाण है। भगवान् अंश तथा जीव उनका सनातन अंश है। ब्रह्मसूत्र (२।३।४२—५३) के भाष्य में इसी तात्पर्य को व्यक्त करते हुए इस गीता—वाक्य को स्मृति कहकर प्रमाण रूप में उल्लिखित किया गया है। गीता ने इस अंशांशिभाव को किस रूप में व्याख्यायित करना चाहा है। इसका स्पष्ट संकेत तो नहीं मिलता किन्तु परवर्ती अद्वैत वेदान्त के टीकाकारों ने प्रतिबिम्बवाद का आश्रय तथा अवच्छेदवाद का आश्रय लेकर इस कल्पना की उपपत्ति अवश्य दिखायी है। गीता में आत्मस्वरूप पर विस्तार से प्रकाश डाला गया है।<sup>15</sup> वह जगद् रूप जड़ तत्त्व चेतन तत्त्व से व्याप्त, उसे धारण करने वाला, श्रेष्ठ एवं सूक्ष्म है। भगवद्गीता की दृष्टि में बिना चेतन के संयोग के इस जगत् की उत्पत्ति, विकास और धारण सम्भव नहीं है इस तरह परा प्रकृति भगवान् का चेतन अंश, जीव एवं संसार में व्याप्त समस्त चेतन तत्त्व है।

अपरा चैतन्य के अभाव वाली होती है। जीवेतर समस्त पदार्थ इसी से उत्पन्न होते हैं। भगवान् की यह प्रकृति अपरा, क्षर, अधिभूत और अद्वैत जैसे नामों से सम्बोधित की गयी है। संसार के सभी जड़ पदार्थ क्षर हैं। यह विकारों, करणों तथा भूतों का मूल कारण है।<sup>16</sup> पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश—पांच भूत एवं तन्मात्राएँ विकार हैं। बुद्धि, मन, अहंकार, पांच कर्मेन्द्रिय, पांच ज्ञानेन्द्रिय—ये करण कहे जाते हैं, इसके अतिरिक्त इनसे उत्पन्न राग-द्वेष सुख-दुःख, चेतना, धृति आदि क्षर हैं। वैसे तो समस्त, अचेतन सांसारिक वस्तुयें अपरा प्रकृति के ही कार्य हैं किन्तु पृथिव्यादि मन, बुद्धि एवं अहंकार—ये आठ मुख्यतः अपरा प्रकृति के रूप बताए गए हैं। पांच महाभूत

करण, शब्दस्पर्शादि पांच इन्द्रिय विषय (२४ प्रकार के) क्षेत्र कहलाते हैं।<sup>१९</sup> इस प्रकार सांख्य सम्मत २४ तत्त्व अपरा प्रकृति के अन्तर्गत आते हैं। इच्छाद्वेषादि को न्याय-वैशेषिक आत्मा या क्षेत्रज्ञ का गुण मानते हैं परन्तु गीता के अनुसार इनका सम्बन्ध क्षेत्रज्ञ से न होकर क्षेत्र से ही है।<sup>२०</sup> कृतकर्मा का फल धारण करने के कारण या भोगायतन होने से शरीर को भी क्षेत्र (खेत) कहा जाता है (गीता—१३।१)।

अपरा प्रकृति भगवान् के साथ अनादिकाल से सम्बन्धित एवं अविशुद्ध है। इसे अधिष्ठान मानकर भगवान् सृष्टि रचना करते हैं। भगवान् अपनी प्रकृति को अधिष्ठान मानकर अपनी माया की सहायता से संसार में अवतार लेते हैं—

अजोऽपि सन्नव्ययारमा भूतानामीश्वरोऽपि सन् ।

प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय संभवाम्यात्म मायया ॥” — गीता-४।६

अपरा प्रकृति से ही बन्धन की प्राप्ति होती है। प्रलयकाल में समस्त भूतों का इसी में लय होता है एवं पुनः सृष्ट्यारम्भ में इसी से इनकी उत्पत्ति होती है।<sup>२१</sup> प्रतिक्षण क्षय को प्राप्त होने वाली अथवा क्षरभावी शरीरेन्द्रियादि के रूप वाली अपरा प्रकृति जीवों के आश्रित होती है एवं संसार की हेतुरूप है। यह ज्ञेय तथा जड़ होने के कारण ज्ञाता, चेतन जीव रूपा परा प्रकृति से सर्वथा भिन्न और निकृष्ट है। इस प्रकार गीता में प्रकृति भगवान् रूप अद्वैत तत्त्व से सम्बद्ध बतायी गयी है। भगवान् की दो प्रकृतियाँ—जड़ एवं चेतन हैं। एक से संसार के सभी जड़ तत्त्वों की उत्पत्ति होती है जबकि दूसरी से चेतन तत्त्व की। इन्हें सांख्यसम्मत प्रकृति और पुरुष कहा जा सकता है। वस्तुतः सांख्य और गीता की प्रकृति में अनेक प्रकार के साम्य और वैषम्य हैं। दोनों के तत्त्वविवेचन में पार्थक्य है। दोनों की प्रकृति एक नहीं है किन्तु कहीं एक-सी भी है।

सांख्यसम्मत प्रकृति की गीता में मान्य अपरा प्रकृति से अत्यधिक समानता है। दोनों ही चेतन के साथ संयोग से समस्त भौतिक संसार की रचना करती हैं। बुद्धि, मनादि सभी अचेतन वस्तुयें इन्हीं से उत्पन्न होती है और इन्हीं में लीन होती हैं। इस साम्य के आगे दोनों में वैषम्य बढ़ता गया है।

सांख्य दर्शन में गुणों की साम्यावस्था का नाम प्रकृति है परन्तु गीता की प्रकृति तीनों गुणों की कारण है। गुण उसके कार्य हैं। इसलिए ‘गुणैः’ पद के साथ ‘प्रकृतिजैः’ (३।५, १८।४), ‘प्रकृतिजान्’ (१३।२१), ‘प्रकृतिसम्भवान्’ (१३।१९), प्रकृतिसम्भवाः इत्यादि विशेषण देकर अन्यत्र भी स्थान-स्थान पर गुणों को प्रकृति का कार्य बतलाया गया है। सांख्य की प्रकृति स्वतंत्र, अनादि, नित्य एवं मूल तत्त्व है जबकि गीता की प्रकृति अनादि (१३।१९) तो है किन्तु स्वतंत्र एवं मूल तत्त्व नहीं। सांख्यशास्त्र में अचेतन एवं जड़ प्रकृति तथा चेतन पुरुष को प्रतिपादित कर यह बतलाया गया है कि इनसे पृथक् तीसरा तत्त्व नहीं है किन्तु गीता का दृष्टिकोण दूसरा है। उसकी दृष्टि में इन दोनों से परे भी एक सर्वव्यापक, अव्यक्त तथा अमृत तत्त्व है जिससे चराचर सृष्टि का जन्म होता है। सांख्याभिमत प्रकृति-पुरुष उस व्यापक ब्रह्म के विभूतिमात्र हैं। सांख्य के अनुसार प्रकृति से ही जगत् की उत्पत्ति होती है। गीता में इस विचार का

थोड़ा परिवर्तित रूप मिलता है। उसके मत में प्रकृति का अध्यक्ष ईश्वर है। उसी की अध्यक्षता में प्रकृति जगत् को पैदा करती है अन्यथा अचेतन जड़ात्मिका प्रकृति में यह क्षमता नहीं आ सकती थी।”

इस प्रकार गीता ने प्रकृति को ईश्वर की अपेक्षा निम्न कोटि का स्थान दिया है। सांख्य के अनुसार जगत् की कारणभूता अजन्मा प्रकृति ही सबसे अव्यक्त है। अतः सांख्य ग्रन्थों में उसी के लिए “अव्यक्त” शब्द का प्रयोग पाया जाता है जबकि गीता (८।२०-२१) में अव्यक्त का प्रयोग व्यक्ताव्यक्त से परे, प्रकृति पुरुष के ऊपर एक विशिष्ट तत्त्व ‘अक्षरब्रह्म’ या ‘परब्रह्म’ के लिए किया गया है। पुरुषोत्तम अक्षर तत्त्व परा प्रकृति से भी उत्तम है। गीता इसे ही सर्वकर्म समर्पण कर देने के लिए कहती है। यह सम्पूर्ण संसार को अपनी योगशक्ति के एक अंशमात्र से धारण करके स्थित है। गीता की यह कल्पना पुरुषसूक्त (ऋग्वेद-१०।१०।३) के समान है। यह जगत् पुरुष का केवल पादमात्र है उसके तीन पाद अमृत आकाश में स्थित हैं—“पादोज्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि।” गीता में सृष्टि रचना करने वाले चेतन एवं जड़ दो तत्त्वों को ईश्वर का ही अंश माना गया है। चेतन एवं जड़ अथवा परा और अपरा प्रकृति क्रमशः सांख्य के पुरुष और प्रकृति स्थानी तत्त्व हैं। मूलतः ईश्वर ही चराचर सृष्टि के रचयिता हैं। सांख्य की प्रकृति की तरह अपरा प्रकृति बुद्धि, मन, अहंकार, भूत, शरीरादि को जन्म देती है। परा प्रकृति सांख्याभिमत पुरुष की तरह अनेक न होकर अद्वैतवेदान्त के ब्रह्म के समान मूलतः एक ही है। गीतासम्मत ईश्वर के रूप को सांख्य में नहीं माना गया है।

इस प्रकार सांख्य एवं गीता में स्वीकृत ‘प्रकृति’ में शाब्दिक साम्य अधिक है, स्वरूपगत साम्य कम। उपर्युक्त संक्षिप्त तुलनात्मक विश्लेषण से सांख्य दर्शन एवं भगवद्गीता में मान्य प्रकृति तत्त्व का अन्तर स्पष्ट है। गीता में सांख्य का प्रकृतिपुरुषवाद ज्यों का त्यों नहीं है अपितु उसमें औपनिषद ब्रह्मवाद, सांख्य के प्रकृतिपुरुषवाद और भागवत धर्म के ईश्वरवाद का मनोहर समन्वय हो गया प्रतीत होता है। □

### सन्दर्भः

१. (क) इवेताइवेतरोपनिषद्-४।५, सांख्यतत्त्वकौमुदी का मंगलाचरण श्लोक  
(ख) सांख्यसूत्र-१।६१, तत्त्ववैशारदी, पृ० २०१, आनन्दाश्रम संस्करण  
(ग) योगसूत्र-२।१८ (व्यास भाष्य सहित)
२. सांख्यकारिका-१२, १४
३. वही, १३
४. (क) वही, ८, ११, १४, १५, १६  
(ख) हेतुमन्तियमव्यापि सक्रियमनेकमाश्रितं लिङ्गम्।  
सावयवं परतन्त्रं व्यक्तं विपरीतमव्यक्तम् ॥—वही, १०
५. वही, २१
६. वही, २२—२७, ३१, ३२, ३४, ३८, ३९, ४३, ४६, ५२ आदि।

खंड १८, अंक २ (जुलाई-सित०, ६२)

७. (क) गीता-६।२९, ३०, ७।६, ७, १९, ९।४, १६, १७, १९  
 (ख) गतिभर्ता प्रमः साक्षी निवासः शरणं सुहृत् ।  
 प्रमवः प्रलयः स्थानं निधानं बीजमव्ययम् ॥—वही, ९।१८  
 (ग) यच्चापि सर्वभूतानां बीजं तदहमर्जुन ।  
 न तदस्ति विना यत्स्यान्मया भूतं चराचरम् ॥—वही, १०।३९
८. वही, ७।७—११
९. अथवा बहुनैतेन किं ज्ञातेन तवार्जुन ।  
 विष्टभ्याहामिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत् ॥—वही, १०।४२
१०. वही, ७।२४ ।
११. वही, १४।१९ और १८।६६ ।
१२. वही, १३।२६
१३. वही, ७।४. ५, ६
१४. (क) ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः ।  
 मनःषष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति ॥—वही, १५।७  
 (ख) वही, १०।४—६, २०—३८ इत्यादि
१५. वही, ७।२९; ८।३, १३।१
१६. वही, १३।३३
१७. वही, २।१९, २०, २४, ३० आदि
१८. (क) भूमिरायोजनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च ।  
 अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा ॥  
 अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम् ।  
 जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत् ॥—वही, ७।४, ५  
 (ख) वही, १५।१६
१९. वही, १३।५
२०. (क) न्याय सूत्र-१।१।१०, वैशेषिक सूत्र-३।२।४  
 (ख) इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं संघातश्चेतना धृतिः ।  
 एतत्क्षेत्रं समासेन सविकारमुदाहृतम् ॥—गीता, १३।६
२१. सर्वभूतानि कौन्तेय प्रकृतिं यान्ति मामिकाम् ।  
 कल्पक्षये पुनस्तानि कल्पादौ विसृजाम्यहम् ॥—वही, ९।७
२२. मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सृयते स चराचरम् ।  
 हेतुनानेन कौन्तेय जगद्विपरिवर्तते ॥—वही, ९।१०

□□

## जटासिंहनन्दि का वराङ्गचरित और उसकी परम्परा

□ डॉ० सागरमल जैन

जटासिंहनन्दि और उनके वराङ्गचरित के दिग्म्बर परम्परा से भिन्न यापनीय अथवा कूर्चक संघ से सम्बन्धित होने के कुछ प्रमाण उपलब्ध होते हैं। यद्यपि श्रीमती कुसुम पटोरिया के अनुसार वराङ्गचरित में ऐसा कोई भी अन्तरङ्ग साक्ष्य उपलब्ध नहीं है' जिससे जटासिंहनन्दि और उनके ग्रन्थ को यापनीय कहा जा सके, किन्तु मेरी दृष्टि में श्रीमती कुसुम पटोरिया का यह कथन समुचित नहीं है। सम्भवतः उन्होंने मूल ग्रन्थ को देखने का प्रयत्न ही नहीं किया और द्वितीयक स्रोतों से उपलब्ध सूचनाओं के आधार पर ऐसा मानस बना लिया।

मैंने यथा सम्भव मूल ग्रन्थ को देखने का प्रयास किया है और उसमें मुझे ऐसे अनेक तत्त्व मिले हैं, जिनके आधार पर वराङ्गचरित और उसके कर्ता जटिल मुनि या जटासिंहनन्दि को दिग्म्बर परम्परा से इतर यापनीय अथवा कूर्चक परम्परा से सम्बद्ध माना जा सकता है। इस विवेचन में सर्वप्रथम तो मैं श्रीमती कुसुम पटोरिया के द्वारा प्रस्तुत उन बाह्य साक्ष्यों की चर्चा करूँगा जिनके आधार पर जटासिंहनन्दि के यापनीय होने की संभावना को पुष्ट किया जाता है। उसके पश्चात् मूल ग्रन्थ में मुझे दिग्म्बर मान्यताओं से भिन्न, जो तथ्य उपलब्ध हुए हैं, उनकी चर्चा करके यह दिखाने का प्रयत्न करूँगा कि जटासिंहनन्दि यापनीय अथवा कूर्चक परम्परा में से किसी एक से सम्बद्ध रहे होंगे।

जटासिंहनन्दि यापनीय संघ से सम्बन्धित थे या कूर्चक संघ से सम्बन्धित थे, इस सम्बन्ध में तो अभी और भी सूक्ष्म अध्ययन की आवश्यकता है, किन्तु इतना निश्चित है कि वे दिग्म्बर परम्परा से भिन्न अन्य किसी परम्परा से सम्बन्धित हैं क्योंकि उनकी अनेक मान्यताएं वर्तमान दिग्म्बर परम्परा के विरोध में जाती हैं। आइए, इन तथ्यों की समीक्षा करें—

१. जिनसेन प्रथम (पुन्नाटसंघीय) ने अपने हरिवंशपुराण (ई० सन् ७८३) में,<sup>१</sup> जिनसेन द्वितीय (पंचस्तूपान्वयी) ने अपने आदि पुराण में,<sup>२</sup> उद्योतनसूरि (श्वे० आचार्य) ने अपनी कुवलयमाला (ई० सन् ७७८) में,<sup>३</sup> राचमल्ल ने अपने कन्नड़ गद्य ग्रन्थ त्रिषष्ठिशलाका पुरुष (ई० सन् ९७४-८४) में,<sup>४</sup> धवल कवि ने अपभ्रंश भाषा में रचित अपने हरिवंश में,<sup>५</sup> जटिलमुनि अथवा उनके वराङ्गचरित का उल्लेख किया है। इनके अतिरिक्त भी पम्प ने अपने आदि पुराण (ई० सन् ९४१)<sup>६</sup> में, नयनसेन ने अपने

धर्मामृत (ई० सन् १११२)" में और पार्श्वपंडित ने अपने पार्श्वपुराण (ई० सन् १२०५) में,<sup>९</sup> जन्न ने अपने अनन्तनाथ पुराण (ई० सन् १२०९) में,<sup>१०</sup> गुणवर्ग द्वितीय ने अपने पुष्पदंतपुराण (ई० सन् १२३०)<sup>११</sup> में, कमल भवन ने अपने शांतिनाथ पुराण (ई० सन् १२३३)<sup>१२</sup> में और महाबल कवि ने अपने नेमिनाथ पुराण (ई० सन् १२५४) में,<sup>१३</sup> जटासिहनन्दि का उल्लेख किया है।

इन सभी उल्लेखों से यह ज्ञात होता है कि जटासिहनन्दि यापनीय, श्वेताम्बर और दिगम्बर तीनों ही परम्पराओं में मान्य रहे हैं। फिर भी सर्वप्रथम पुन्नाटसंघीय जिनसेन के द्वारा जटासिहनन्दि का आदरपूर्वक उल्लेख यह बताता है कि वे सम्भवतः यापनीय परम्परा से सम्बन्धित रहे हों।<sup>१४</sup> क्योंकि पुन्नाटसंघ का विकास यापनीय पुन्नागवृक्ष मूलगण से ही हुआ है।<sup>१५</sup> पुनः श्वेताम्बर आचार्य उद्योतनसूरि ने यापनीय आचार्य रविषेण और उनके ग्रन्थ पद्मचरित के साथ-साथ जटासिहनन्दि के वरांग-चरित का उल्लेख किया है। इससे ऐसी कल्पना की जा सकती है कि दोनों एक ही परम्परा के और समकालिक रहे होंगे। पुनः श्वेताम्बर और यापनीय में एक-दूसरे के ग्रन्थों के अध्ययन की परम्परा रही है। यापनीय आचार्य प्राचीन श्वेताम्बर आचार्यों के ग्रन्थों को पढ़ते थे। जटासिहनन्दि के द्वारा प्रकीर्णकों, आवश्यकनिर्युक्ति तथा सिद्धसेन के सन्मति तर्क और विमलसूरि के पद्मचरिय का अनुसरण यही बताता है कि वे यापनीय सम्प्रदाय से सम्बन्धित रहे होंगे। क्योंकि यापनीयों द्वारा इन ग्रन्थों का अध्ययन अध्यापन एवं अनुसरण किया जाता था, इसके अनेक प्रमाण दिए जा सकते हैं। यह ही सकता है कि जटासिहनन्दि यापनीय न होकर कूर्चक सम्प्रदाय से सम्बन्धित रहे हों और यह कूर्चक सम्प्रदाय भी यापनीयों की भांति श्वेताम्बरों के अति निकट रहा हो। यद्यपि इस सम्बन्ध में विस्तृत गवेषणा अभी अपेक्षित है।

२. जटासिहनन्दि यापनीय परम्परा से सम्बद्ध रहे हैं इस सम्बन्ध में जो बाह्य साक्ष्य उपलब्ध हैं उनमें प्रथम यह है कि कन्नड़ कवि जन्न ने जटासिहनन्दि को 'काणूरगण' का बताया है। अनेक अभिलेखों से यह सिद्ध होता है कि यह काणूरगण प्रारम्भ में यापनीय परम्परा का एक गण था। इस गण का सर्वप्रथम उल्लेख सौंदरी के ई० सन् दसवीं शती (९८८) के एक अभिलेख में मिलता है। इस अभिलेख में गण के साथ यापनीय संघ का भी स्पष्ट निर्देश है।<sup>१६</sup> यह सम्भव है कि इस गण का अस्तित्व इसके पूर्व सातवीं-आठवीं सदी में भी रहा हो। डॉ० उपाध्ये. जन्न के इस अभिलेख को शंका की दृष्टि से देखते हैं। उनकी इस शंका के दो कारण हैं—एक तो यह कि गणों की उत्पत्ति और इतिहास के विषय में पर्याप्त जानकारी का अभाव है, दूसरे जटासिहनन्दि जन्न के समकालीन भी नहीं हैं।<sup>१७</sup> यह सत्य है कि दोनों में लगभग पांच सौ वर्ष का अन्तराल है। किन्तु मात्र कालभेद के कारण जन्न का कथन भ्रान्त हो, हम डॉ० उपाध्ये के इस मन्तव्य से सहमत नहीं हैं। यह ठीक है कि यापनीय परम्परा के काणूर आदि कुछ गणों का उल्लेख आगे चलकर मूलसंघ और कुन्दकुन्दान्वय के साथ भी हुआ है।<sup>१८</sup> किन्तु इससे उनका मूल में यापनीय होना अप्रमाणित नहीं हो जाता। काणूरगण के ही १२वीं शताब्दी तक के अभिलेखों में यापनीय संघ के उल्लेख



उपलब्ध होते हैं (देखें जैन शिलालेख संग्रह भाग ५ लेख क्रमांक १/७)। इसके अतिरिक्त स्वयं डॉ० उपाध्ये ने १२ वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध के कुछ शिलालेखों में काणूरगण के सिंहनन्दि के उल्लेख को स्वीकार किया है।<sup>१५</sup> यद्यपि इस लेखों में काणूरगण के इन सिंहनन्दि को कहीं मूलसंघ और कहीं कुन्दकुन्दावय का बताया गया है। लेकिन स्मरण रखना होगा कि यह लेख उस समय का है जब यापनीय गण भी अपने को मूलसंघ से जोड़ने लगे थे। पुनः इन लेखों में सिंहनन्दि का काणूरगण के आद्याचार्य के रूप में उल्लेख है। उनकी परम्परा में प्रभाचन्द्र, गुणचन्द्र, माघनन्दि प्रभाचन्द्र, अनन्तवीर्य, मुनिचन्द्र, प्रभाचंद्र आदि का उल्लेख है—यह लेख तो बहुत समय पश्चात् लिखा गया है। पुनः इन लेखों में भी प्रारम्भ में जटासिंहनन्दि आचार्य का उल्लेख है, वहाँ न तो मूलसंघ का उल्लेख है और न कुन्दकुन्दावय का। वहाँ मात्र काणूरगण का उल्लेख है। यह काणूरगण प्रारम्भ में यापनीय गण था। अतः सिद्ध है कि जटासिंहनन्दि काणूरगण के आद्याचार्य रहे होंगे। इन शिलालेखों में सिंहनन्दि को गंग वंश का समुद्धारक कहा गया है। यदि गंग वंश का प्रारम्भ ई० सन् चतुर्थ शती माना जाता है तो गंगवंश के संस्थापक सिंहनन्दि जटासिंहनन्दि से भिन्न होने चाहिए। पुनः काणूरगण का अस्तित्व भी ई० सन् की ७ वीं-८ वीं शती के पूर्व ज्ञात नहीं होता है। सम्भावना यही है कि जटासिंहनन्दि काणूरगण के आद्याचार्य रहे हों और उनका गंग वंश पर अधिक प्रभाव रहा हो। अतः आगे चलकर उन्हें गंगवंश का उद्धारक मान लिया गया हो तथा गंगवंश के उद्धार की कथा उनसे जोड़ दी गई हो।

३. जन्न ने अनन्तनाथ पुराण में न केवल जटासिंहनन्दि का उल्लेख किया है अपितु उनके साथ-साथ ही काणूरगण के इन्द्रनन्दि आचार्य का भी उल्लेख किया है।<sup>१६</sup> हम छेदपिण्ड शास्त्र की परम्परा की चर्चा करते समय अनेक प्रमाणों से यह सिद्ध कर चुके हैं कि जटासिंहनन्दि के समकालीन या उनसे किञ्चित् परवर्ती ये इन्द्रनन्दि रहे हैं।<sup>१७</sup> जिनका उल्लेख शाकटायन आदि अनेक यापनीय आचार्यों ने किया है। जन्न ने जटासिंहनन्दि और इन्द्रनन्दि दीनों को काणूरगण का बताया है। इससे उनके कथन में अविश्वसनीयता जैसी कोई बात नहीं लगती है।

४. कोप्पल में उपलब्ध (पुरानी कन्नड़ में) एक लेख भी उपलब्ध होता है जिसके अनुसार जटासिंहनन्दि के चरण-चिह्नों को चाववय ने बनवाया था।<sup>१८</sup> इससे यह सिद्ध होता है कि जटासिंहनन्दि का समाधिमरण सम्भवतः कोप्पल में हुआ हो। पुनः डॉ० उपाध्ये ने गणभेद नामक अप्रकाशित कन्नड़ ग्रंथ के आधार पर यह भी मान लिया है कि कोप्पल या कोपन यापनीयों की मुख्य पीठ थी।<sup>१९</sup> अतः कोप्पल/कोपन से सम्बन्धित होने के कारण जटासिंहनन्दि के यापनीय होने की सम्भावना अधिक प्रबल प्रतीत होती है।

५. यापनीय परम्परा में मुनि के लिए 'यति' का प्रयोग अधिक प्रचलित रहा है। यापनीय आचार्य पाल्यकीर्ति शाकटायन को 'यतिग्रामाग्रणी' कहा गया है। हम देखते हैं कि जटासिंहनन्दि के इस वराणचरित में भी मुनि के लिए यति शब्द का प्रयोग बहुतायत से हुआ है।<sup>२०</sup> ग्रन्थकार की यह प्रवृत्ति उसके यापनीय होने का संकेत करती है।

६. वरांगचरित में सिद्धसेन के “सन्मति तर्क” का बहुत अधिक अनुसरण देखा जाता है। अनेक आधारों से यह सिद्ध होता है कि सन्मति तर्क के कर्ता सिद्धसेन किसी भी स्थिति में दिगम्बर परम्परा—से सम्बद्ध नहीं रहे हैं। यदि वे पांचवीं शती के पश्चात् हुए हैं तो निश्चित ही श्वेताम्बर हैं और यदि उसके पूर्व हुए हैं तो अधिक से अधिक श्वेताम्बर और यापनीय परम्परा की पूर्वज उत्तरभारतीय निग्रन्थ धारा से सम्बद्ध रहे हैं। उनके ‘सन्मति तर्क’ में क्रमवाद के साथ-साथ युगपद्वाद की समीक्षा, आगमिक परम्परा का अनुसरण, कृति का महाराष्ट्री प्राकृत में होना आदि तथ्य इस संभावना को पुष्ट करते हैं। वरांगचरित के २६ वें सर्ग के अनेक श्लोक ‘सन्मति तर्क’ के प्रथम और तृतीय काण्ड की गाथाओं का संस्कृत रूपांतरण मात्र लगते हैं।

देखें—

वरांगचरित	सन्मति तर्क	वरांगचरित	सन्मति तर्क
२६/५२	१/६	२६/६५	१/५२
२६/५३	१/९	२६/६९	३/४७
२६/५४	१/११	२६/७०	३/५४
२६/५५	१/१२	२६/७१	३/५५
२६/५७	१/१७	२६/७२	३/५३
२६/५८	१/१८	२६/७८	३/६९
२६/६०	१/२१	२६/९०	३/६९
२६/६१	१/२५	२६/९९	३/६७
२६/६२	१/२३-२४	२६/१००	३/६८
२६/६३	१/२५		
२६/६४	१/५१		

वरांगचरितकार जटासिंहनन्दि द्वारा सिद्धसेन का यह अनुसरण इस बात का सूचक है कि वे सिद्धसेन से निकट रूप से जुड़े हुए हैं। सिद्धसेन का प्रभाव श्वेताम्बरों के साथ-साथ यापनीयों और यापनीयों के कारण पुन्नाटसंघीय आचार्यों एवं पंचस्तूपान्वय के आचार्यों पर भी देखा जाता है। इससे यह सिद्ध होता है कि जटासिंहनन्दि उस यापनीय अथवा कूर्चक परम्परा से सम्बन्धित रहे होंगे जो अनेक बातों में श्वेताम्बरों की आगमिक परम्परा के निकट थी। यदि सिद्धसेन श्वेताम्बर और यापनीयों के पूर्वज आचार्य है तो यापनीय आचार्यों के द्वारा उनका अनुसरण संभव है।

७. वरांगचरित में, अनेक संदर्भों में आगमों, प्रकीर्णकों एवं निर्युक्तियों का अनुसरण किया गया है। सर्वप्रथम तो उसमें कहा गया है—“वरांगमुनि ने अल्पकाल में ही आचारांग और अनेक प्रकीर्णकों का सम्यक् अध्ययन करके क्रमपूर्वक अंगों एवं पूर्वों का अध्ययन किया।”<sup>२१</sup> इस प्रसंग में प्रकीर्णकों का उल्लेख महत्त्वपूर्ण है। विषयवस्तु की दृष्टि से तो इसके अनेक सर्गों में आगमों का अनुसरण देखा जाता है। विशेष रूप से स्वर्ग, नरक, कर्मसिद्धांत आदि सम्बन्धी विवरण में उत्तराध्ययन सूत्र का अनुसरण हुआ है। जटासिंहनन्दि ने चतुर्थ सर्ग में जो कर्म सिद्धांत का विवरण दिया है उसके अनेक

श्लोक अपने प्राकृत रूप में उत्तराध्ययन के तीसवें कर्म प्रकृति नामक अध्ययन में यथावत् मिलते हैं—

### उत्तराध्ययन

३०/२-३

३०/५-६

३०/८-९

३०/१०-११

३०/१२

३०/१३

३०/१५

### वरांगचरित

४/२-३

४/२४-२५

४/२५-२६-२७

४/२८-२९

४/३३ (आंशिक)

४/३५ (आंशिक)

४/३७

यद्यपि सम्पूर्ण विवरण की दृष्टि से वरांगचरित का कर्म सिद्धांत सम्बन्धी विवरण उत्तराध्ययन की अपेक्षा विकसित प्रतीत होता है। इसी प्रकार की समानता स्वर्ग-नरक के विवरण में देखी जाती है। उत्तराध्ययन में ३६ वें अध्ययन की गाथा क्रमांक २०४ से २९६ तक वरांगचरित के नवें सर्ग के श्लोक १ से १२ तक किंचित् शाब्दिक परिवर्तन के साथ संस्कृत रूप में पायी जाती हैं। आश्चर्य की बात यह है कि जटासिंहनन्दि भी आगमों के अनुरूप बारह देवलोकों की चर्चा करते हैं।

इसी प्रकार प्रकीर्णक साहित्य की भी अनेक गाथाएं वरांगचरित में अपने संस्कृत रूपांतरण के साथ पायी जाती हैं। देखें—

वंसणभट्टो भट्टो, न हु भट्टो होइ चरणपद्मभट्टो ।

वंसणमणुपत्तस्स उ परियडणं नत्थि संसारे ॥६५॥

वसणभट्टो भट्टो, वंसणभट्टस्स नत्थि निव्वाणं ।

सिज्झंति चरणरहिया, वंसणरहिया न सिज्झंति ॥६६॥

—भक्तपरिज्ञा ।

### तुलनीय—

दर्शनाद्भ्रष्ट एवानुभ्रष्ट भ्रष्ट इरयभिधीयते ।

न हि चारित्रविभ्रष्टो भ्रष्ट इत्युच्यते बुधैः ॥६६॥

महता तपसा युक्तो मिथ्यादृष्टिरसंयतः ।

तस्य सर्वज्ञसंबुद्ध्या संसारोऽनन्त उच्यते ॥६७॥

—वरांगचरित सर्ग २६ ।

इसी प्रकार वरांगचरित के निम्न श्लोक आतुर प्रत्याख्यान में पाए जाते हैं—

एकस्तु मे शाश्वतिकः स आत्मा सद्बुष्टिसज्जानगुणरूपेतः ।

शेषाश्च मे बाह्यातमाश्च भावाः संयोगसत्त्वक्षणलक्षितास्ते ॥१०१॥

संयोगतो दोषमवाप जीवः परस्परं नैकविधानुबन्धि ।

तस्माद्बिद्वसंयोगमतो दुरन्तमाजीवितांतावहमुत्सुजामि ॥१०२॥

सर्वेषु भूतेषु मनः समं मे वरं न मे केनचिदस्ति किंचित् ।

आशां पुनः क्लेशसहस्रमूलां हित्वा समाधिं लघु संप्रपद्ये ॥१०३॥

—वरांगचरित सर्ग ३१ ।

## तुलनीय—

एगो मे सासओ अप्पा नाण-वंसणसंजुओ ।  
 सेसा मे बहिरा भावा सध्वे संजोगलखणा ॥२७॥  
 संजोगमूला जीवेणं पत्ता दुक्खपरंपरा ।  
 तम्हा संजोगसम्बन्धं सध्वं भावेण वोसिरे ॥२८॥  
 सम्मं में सव्वभूएमु वेरं मज्झ न केणई ।  
 आसाओ वोसिरित्ताणं समाहिं पडिवज्जए ॥२२॥

—आतुर प्रत्याख्यान

ये तीनों गाथाएं आतुरप्रत्याख्यान से सीधे वरांगचरित में गई या मूलाचार के माध्यम से वरांगचरित में गई यह एक अलग प्रश्न है। मूलाचार यापनीय ग्रन्थ है अतः यदि ये गाथाएं मूलाचार से भी ली गई हों तो भी जटासिहनन्दि और उनके ग्रन्थ वरांगचरित के यापनीय होने की ही पुष्टि होती है। यद्यपि कुन्दकुन्द के ग्रन्थों में भी ये गाथाएं पायी जाती हैं, किन्तु इतना निश्चित है कि कुन्द-कुन्द ने भी ये गाथाएं मूलाचार से ही ली होंगी। और पुनः मूलाचार में आतुरप्रत्याख्यान की ली गई सभी गाथायें समाहित कर ली गई हैं, अतः अन्ततोगत्वा तो ये गाथायें आतुर प्रत्याख्यान से ही ली गई हैं।

आवश्यकनिर्युक्ति की भी निम्न दो गाथाएं वरांगचरित में मिलती हैं—

हयं नाणं कियाहीणं, हया अन्नाणओ किया ।  
 पासंतो पंगुलो दड्डो धावमाणो अ अंधओ ॥१॥  
 संयोगसिद्धिइ फलं वयंति, न हु एगचक्केण रहो पयाइ ।  
 अंधो य पंगू य वणे समिच्चा, ते संपउत्ता नगरं पविट्टा ॥२॥

## तुलनीय—

क्रियाहीनं च यज्ज्ञानं न तु सिद्धिं प्रयच्छति ।  
 परिपश्यन् यथा पंगु मुग्धो दग्धो दवाग्निना ॥६६॥  
 तो यथा संप्रयुक्तौ तु दवाग्निमधिगच्छतः ।  
 तथा ज्ञानचरित्राभ्यां संसारान्मुच्यते पुमान् ॥१०१॥

—वारांगचरित सर्ग २६

आगम, प्रकीर्णक और निर्युक्ति, साहित्य का यह अनुसरण जटासिहनन्दि और उनके ग्रन्थ को दिग्म्बरेतर यापनीय या कूर्चक सम्प्रदाय का सिद्ध करता है।

८. जटासिहनन्दि ने न केवल सिद्धसेन का अनुसरण किया है अपितु उन्होंने विमलसूरि के पद्मचरिय का भी अनुसरण किया है। चाहे यह अनुसरण उन्होंने सीधे रूप से किया हो या रविषेण के पद्मचरित के माध्यम से किया हो, किन्तु इतना सत्य है कि उन पर यह प्रभाव आया है। वरांगचरित में श्रावक के व्रतों की जो विवेचना उपलब्ध होती है वह न तो पूर्णतः इवेताम्बर परम्परा के उपासकदशा के निकट है और न पूर्णतः दिग्म्बर परम्परा द्वारा मान्य तत्त्वार्थ के पूज्यपाद् देवनन्दी के सर्वार्थ-

सिद्धि के मूलपाठ के निकट है। अपितु वह विमलसूरि के पञ्चमचरिय के निकट है। पञ्चमचरिय के समान ही इसमें भी देशावकासिक व्रत का अन्तर्भाव विक्रत में मानकर उस रिक्त स्थान की पूर्ति के लिए सलेखना को बारहवां शिक्षाव्रत माना गया है।<sup>१६</sup> कुन्दकुन्द ने भी इस परम्परा का अनुसरण किया है।<sup>१७</sup> किन्तु कुन्दकुन्द विमलसूरि से तो निश्चिन्त ही परवर्ती है और सम्भवतः जटासिंहनन्दि से भी। अतः उनके द्वारा किया गया यह अनुसरण अस्वाभाविक भी नहीं है। स्मरण रहे कि कुन्दकुन्द ने त्रस-स्थावर के वर्गीकरण, चतुर्विध मोक्षमार्ग आदि के सम्बन्ध में भी आगमिक परम्परा का अनुसरण किया है। स्पष्ट है कि विमलसूरि के पञ्चमचरिय का अनुसरण रविषेण, स्वयंभू आदि अनेक यापनीय आचार्यों ने किया है। अतः जटासिंहनन्दि के यापनीय होने की संभावना प्रबल प्रतीत होती है।

९. जटासिंहनन्दि ने वरांगचरित के नवें सर्ग में कल्पवासी देवों के प्रकारों का जो विवरण प्रस्तुत किया है वह दिग्म्बर परम्परा से भिन्न है। वैमानिक देवों के भेद को लेकर श्वेताम्बर और दिग्म्बर परम्परा में स्पष्ट रूप से मतभेद है। जहाँ श्वेताम्बर परम्परा वैमानिक देवों में १२ विभाग मानती है वहाँ दिग्म्बर परम्परा उनके १६ विभाग मानती है। इस संदर्भ में जटासिंहनन्दि स्पष्ट रूप से श्वेताम्बर या आगमिक परम्परा के निकट है। वे नवें सर्ग के द्वितीय श्लोक में स्पष्ट रूप से यह कहते हैं कि कल्पवासी देवों के बारह भेद हैं।<sup>१८</sup> पुनः इसी सर्ग के सातवें श्लोक से नवें श्लोक तक उत्तराध्ययन सूत्र के समान उन १२ देवलोकों के नाम भी गिनाते हैं।<sup>१९</sup> यहाँ वे स्पष्ट रूप से न केवल दिग्म्बर परम्परा से भिन्न होते हैं बल्कि किसी सीमा तक यापनीयों से भिन्न प्रतीत होते हैं। यद्यपि स्मरण रखना होगा कि यापनीयों में प्रारम्भ में आगमों का अनुसरण करते हुए १२ भेद मानने की प्रवृत्ति रही होगी, किन्तु बाद में दिग्म्बर परम्परा या अन्य किसी प्रभाव से उनमें १६ भेद मानने की परम्परा विकसित हुई होगी। तत्त्वार्थसूत्र के सर्वार्थसिद्धि मान्य पाठ में तथा तिलोयपण्णत्ति में इन दोनों ही परम्पराओं के बीज देखे जाते हैं। तत्त्वार्थसूत्र का सर्वार्थसिद्धि मान्य यापनीय पाठ जहाँ देवों के प्रकारों की चर्चा करता है वहाँ वह १२ का निर्देश करता है किन्तु जहाँ वह उनके नामों का विवरण प्रस्तुत करता है तो वहाँ १६ नाम प्रस्तुत करता है।<sup>२०</sup> यतिवृषभ की तिलोयपण्णत्ति में भी १२ और १६ दोनों प्रकार की मान्यताएं होने के स्पष्ट उल्लेख पाये जाते हैं।<sup>२१</sup> इससे स्पष्ट लगता है कि प्रारम्भ में आगमिक मान्यता का अनुसरण करते हुए यापनीयों में और यदि जटासिंहनन्दि कूर्चक हैं तो कूर्चकों में भी कल्पवासी देवों के १२ प्रकार मानने की परम्परा रही होगी। आगे यापनीयों में १६ देवलोकों की मान्यता किसी अन्य परम्परा के प्रभाव से आयी होगी।

१०. वरांगचरित में वरांगकुमार की दीक्षा का विवरण देते हुए लिखा गया है कि—'श्रमण और आर्थिकाओं के समीप जाकर तथा उनका विनयोपचार (वन्दन) करके वैराग्ययुक्त वरांगकुमार ने एकांत में जा सुन्दर आभूषणों का त्याग किया तथा गुण, शील, तप एवं प्रबुद्ध तत्त्व रूपी सम्यक् श्रेष्ठ आभूषण तथा श्वेत शुभ्र वस्त्रों

को ग्रहण करके वे जिनेन्द्र द्वारा प्रतिपादित मार्ग में अग्रसर हुए।<sup>122</sup> दीक्षित होते समय मात्र आभूषणों का त्याग करना तथा श्वेत शुभ्र वस्त्रों को ग्रहण करना दिगम्बर परम्परा के विरोध में जाता है। इससे ऐसा लगता है कि जटासिहनन्दि दिगम्बर परम्परा से भिन्न किसी अन्य परम्परा का अनुसरण करने वाले थे। यापनीयों में अपवाद मार्ग में दीक्षित होते समय राजा आदि का नग्न होना आवश्यक नहीं माना गया था। चूंकि वरांगकुमार राजा थे अतः सम्भव है कि उन्हें सबस्त्र ही दीक्षित होते दिखाया गया हो। यापनीय ग्रन्थ भगवती आराधना एवं उसकी अपराजिता टीका में हमें निर्देश मिलने हैं कि राजा आदि कुलीन पुरुषों के दीक्षित होते समय या संथारा ग्रहण करते समय अपवाद लिग (सबस्त्र) रख सकते हैं।<sup>123</sup> पुनः वरांगचरित में हमें मुनि की चर्चा के प्रसंग में हेमन्त काल में शीत-परिषह सहते समय मुनि के लिए मात्र एक बार दिगम्बर शब्द का प्रयोग मिला है।<sup>124</sup> सामान्यतया 'विशीर्णवस्त्रा' शब्द का प्रयोग हुआ है। एक स्थल पर अवश्य मुनियों को 'निरस्त्रभूषा' कहा गया है<sup>125</sup> किन्तु निरस्त्रभूषा का अर्थ साज-सज्जा से रहित होता है, नग्न नहीं।—ये कुछ ऐसे तथ्य हैं जिनपर वरांगचरित की परम्परा का निर्धारण करते समय गम्भीरता से विचार किया जाना चाहिए। मैं चाहूंगा कि आगे आने वाले विद्वान् सम्पूर्ण ग्रन्थ का गम्भीरतापूर्वक आलोडन करके इस समस्या पर विचार करें।

साध्वियों के प्रसंग में चर्चा करते समय उन्हें जीर्ण-शीर्ण वस्त्रों को धारण करने वाली अथवा विशीर्ण वस्त्रों से आवृत्त देह वाली कहा गया है।<sup>126</sup> इससे भी यह सिद्ध होता है कि वरांगचरितकार जटासिहनन्दि को स्त्री दीक्षा और सबस्त्र दीक्षा मान्य थीं। जबकि कुन्दकुन्द स्त्री दीक्षा का सर्वथा निषेध करते हैं।<sup>127</sup>

११. वरांगचरित में स्त्रियों की दीक्षा का स्पष्ट उल्लेख है<sup>128</sup> उसमें कहीं भी ऐसा उल्लेख नहीं है कि स्त्री को उपचार से महाव्रत होते हैं, जैसा कि दिगम्बर परम्परा मानती है। इस ग्रन्थ में उन्हें तपोव्रता, अभित-प्रमावी, गणाग्रणी, संयमनायिका जैसे सम्मानित पदों से अभिहित किया गया है।<sup>129</sup> साध्वी वर्ग के प्रति ऐसा आदरभाव कोई श्वेताम्बर या यापनीय आचार्य ही प्रस्तुत कर सकता है। अतः इतना निश्चित है कि जटासिहनन्दि का वरांगचरित कुन्दकुन्द की उस दिगम्बर परम्परा का ग्रन्थ नहीं हो सकता, जो स्त्रियों की दीक्षा का निषेध करती हो या उनके उपचार से ही महाव्रत कहे गये हैं, ऐसा मानती हो। कुन्दकुन्द ने सूत्रप्राभूत गाथा क्रमांक २५ में एवं लिङ्गप्राभूत गाथा क्रमांक २० में स्त्री दीक्षा का स्पष्ट निषेध किया है।

१२. वरांगचरित में श्रमणों और आर्याकाओं को वस्त्रदान की चर्चा है। यह तथ्य दिगम्बर परम्परा के विपरीत है। उसमें लिखा है कि "वह नृपति मुनि पुङ्गवों को आहारदान, श्रमणों और आर्याकाओं को वस्त्र और अन्नदान तथा दरिद्रों को याचित दान (किमिच्छदानं) देकर कृतार्थ हुआ।"<sup>130</sup> यहां प्रश्न उपस्थित होता है कि मूल श्लोक में जहां मुनि पुङ्गवों के लिए आहारदान का उल्लेख किया गया है वहां श्रमण और आर्याकाओं के लिए वस्त्र और अन्न (आहार) के दान का प्रयोग हुआ है। संभवतः यहां अचेल मुनियों के लिए ही 'मुनिपुङ्गव' शब्द का प्रयोग हुआ है और

सचेल मुनि के लिए 'श्रमण' । भगवती आराधना एवं उसकी अपराजित की टीका से यह स्पष्ट है कि यापनीय परम्परा में अपवाद मार्ग में मुनि के लिए वस्त्र-पात्र ग्रहण करने का निर्देश है ।<sup>४१</sup>

वस्त्रादि के संदर्भ में उपरोक्त सभी तथ्यों को दृष्टिगत रखते हुए यह कहा जा सकता है कि जटासिहनन्दि और उनका वरांगचरित भी यापनीय/कूचक परम्परा से सम्बद्ध रहा है ।

१३. वर्ण-व्यवस्था के संदर्भ में भी वरांगचरित के कर्ता जटासिहनन्दि का दृष्टिकोण आगमिक धारा के अनुरूप अति उदार है । उन्होंने वरांगचरित के पच्चीसवें सर्ग में जन्मना आधार पर वर्ण व्यवस्था का स्पष्ट निषेध किया है । वे कहते हैं कि वर्ण व्यवस्था कर्म-विशेष के आधार पर ही निश्चित होती है इससे अन्य रूप में नहीं ।<sup>४२</sup> जातिमात्र से कोई विप्र नहीं होता, अपितु ज्ञान, शील आदि से ब्राह्मण होता है । ज्ञान से रहित ब्राह्मण भी निकृष्ट है किन्तु ज्ञानी शूद्र भी वेदाध्ययन कर सकता है । व्यास, वसिष्ठ, कमठ, कण्ठ, द्रोण, पराशर आदि ने अपनी साधना और सदाचार से ही ब्राह्मणत्व को प्राप्त किया था ।<sup>४३</sup> इस प्रकार हम देखते हैं कि वर्ण-व्यवस्था के संदर्भ में वरांगचरितकार का दृष्टिकोण उत्तराध्ययन आदि आगमिक धारा के निकट है । पुनः इस आधार पर यह कहा जा सकता है कि जटासिहनन्दि उस दिग्म्बर परम्परा के नहीं हैं जो शूद्र-जल त्याग और शूद्र-मुक्ति निषेध करती है । इससे जटासिहनन्दि और उनके ग्रन्थ वरांगचरित के यापनीय अथवा कूचक होने की पुष्टि होती है । □

### संदर्भ

१. यापनीय और उनका साहित्य; डॉ० कुमुम पटोरिया पृ० १५७-१५८ ।

२. वरांगनेय सर्वांगवराङ्गचरितार्थवाक् ।

कस्य नोत्पादयेद्गाढमनुरागं स्वगोचरम् ॥

—हरिवंशपुराण (जिनसेन), १/३४-३५

३. काव्यानुचिन्तने यस्य जटाः प्रचलवृत्तयः ।

अर्थान्स्मानुवदन्तीव जटाचार्यः स नोऽवतात् ॥

—आदिपुराण (जिनसेन), १/५०

४. जेहि कए रमणिज्जे वरंग-पउमाण चरियवित्थारे ।

कह थ ण सलाहणिज्जे ते कइणो जडिय-रविसेणो ॥

—कुवलयमाला,

५. ऐदनय श्रोतृवर्षो जटासिहनंथाचार्यर वृत्तं—उद्धृत वरांगचरित, भूमिका पृ० ११

६. मुणिमहसेणु सुलोयणु जेण पउमचरिउ मुणिरविसेणेण ।

जिणसेणेण हरिवंसु पवित्तु जडिलमुणिणा वरंगचरित्तु ॥

—हरिवंश, उद्धृत वरांगचरित, भूमिका पृ० १०

७. आर्यनुत-गृध्रपिच्छा—

चार्य-जटाचार्य-विश्रुतश्रुतकीर्त्याचार्य

पुरस्सरमप्पा-चार्य परम्परयें कुडुगें भव्योत्सवमं ॥

आदिपुराण, १/१२

८. वर्यलोकोत्तममविसुवोडनधरत्युन्नतकौडकुंदाचार्य चरित्ररत्नाकररधिकगुण-  
संज्जटासिंहनद्याचार्यश्रीकृचिभट्टारकरुदितयर्णामकपेपिगें लोकाश्चर्यनिष्कर्मरंमं  
पौरमडिसुगें संसारकांतारदिदं ॥

—धर्माभूत, १/१३

९. विदिरपोदर् ताल्लयें तू—गिदाडाविदिजिनमुनिप—जटाचार्यर धैर्येद पंपु  
गेल्दुदु पसगंदलुकेयेननिसि नेगेदुमिगें सोगयिसिदं ॥ —पाश्वपुराण, १/१४

१०. बंधर् जटासिंहणद्याचार्यदीद्रणद्याचार्यादिमुनिपराकाणूर्गणद्यपृथिवियॉलगंलं ॥

—अनन्तनाथ पुराण, १/१७

११. नडवलियोल् तन्नं तमं बडदारुं नडदरिल्ल गडमतेदेयुं ।

नुडियुं नडेदुवो पदुलिके येडेगे जटासिंहणदि मुनिपुंगवना ॥

पाश्वर् पुष्पदंत-पुराण, १/२९

१२. कार्यविदहृद्वत्या-चार्य-जटासिंहनदिनामोद्दामाचार्यवरगृध्रपिच्छाचार्यर चरणार-  
विदवृदस्तोत्रं ॥

—शांतिनाथपुराण, १/१९

१३. धैर्यपरगृध्रपिच्छा—चार्यर जटासिंहनदि जगतीख्याता-चार्यर प्रभावमत्यश्चर्यमदं  
पागलूवडवजजंगमसाध्यं ॥

नेमिनाथपुराण, १/१४

१४. हरिवंश (जिनसेन) १/३५

१५. देखें—जैनधर्म का यापनीय सम्प्रदाय, प्रो० सागरमल जैन

१६. ....यापनीय संघ प्रतीतकण्डूर्गणाविध.....। जैन शिलालेख संग्रह, भाग २

—लेख क्रमांक १६०

१७. देखें—वरांगचरित, भूमिका (अंग्रेजी) पृ० १६

१८. देखें—जैन शिलालेख संग्रह, भाग-२ लेख क्रमांक २६७, २७७, २९९

१९. वही—भाग-२ लेख क्रमांक २६७, २७१, २९९

(ज्ञातव्य है कि काणूरगण को मूलसंघ, कुन्दकुन्दान्वय और मेघ पाषाण गच्छ  
से जोड़ने वाले ये लेख न केवल परवर्ती हैं अपितु इनमें एकरूपता भी नहीं  
है ।)

२०. वरांगचरित, सं-ए० एन० उपाध्ये, भूमिका (अंग्रेजी) पृ १६ पर उद्धृत—  
बंधर् जटासिंहणद्याचार्यदीद्रणद्याचार्यादि मुनि परा काणूर्गणं....।

—अनन्तनाथ पुराण १/१७

२१. देखें—जैनधर्म का यापनीय सम्प्रदाय, प्रो० सागरमल जैन प्र० १४५-१४६

२२. देखें—वरांगचरित, सं० ए० एन० उपाध्ये, भूमिका (अंग्रेजी) पृ० १७

२३. देखें—यापनीय पर कुछ और प्रकाश, ए० एन० उपाध्ये, अनेकांत, वीर निर्वाण  
विशेषांक १९७५ ।



२४. यतीणां (३/७), यतीन्द्र (३/४३), यतिपतिना (५/११३), यति (५/११४),  
यतिना (८/६८), बीरचर्या यतयो-बभूवुः (३०/६१) यतिपति (३०/९९),  
यतिः (३१/२१) ।

२५. आचारमादौ समधीत्य धीमान्प्रकीर्णकाध्यायमनेकभेदम् ।  
अङ्गानि पूर्वाश्च यथानुपूर्व्यमित्पैरहोमिः सममध्यगीष्ट ॥

—वरांगचरित, ३१/१८

२६. स्थूलामहिसामपि सत्यवाक्यमचोरतादाररतिव्रतं च ।  
भोगोपभोगार्थपरिप्रमाणमन्वर्थदिग्देशनिवृत्तितां च ॥  
सामयिकं प्रोषधपात्रदानं सल्लेखनां जीवितसंशये च ।  
गृहस्थधर्मस्य हि सार एषः संक्षेपतस्तेऽभिनिगद्यते स्म ॥

—वरांगचरित, २२/२९-३०

देखिएः—

वरांगचरित सर्ग १५, श्लोक १११-१२५ ।

तुलनीयः—

पञ्च य अणुव्वयाइं, तिण्णेव गुणव्वयाइ भणियाइं ।  
सिक्खावयाणि एत्तो, चत्तारि जिणोवइट्टाणि ॥११२॥  
भूलयरं पाणिवहं, मूसावायं अदत्तदानं च ।  
परजुवईण निवित्ती, संतोसवयं च पञ्चमयं ॥११३॥  
दिसिविदिसाण य नियमो, अणत्थदण्डस्स वज्जणं चैव ।  
उवभोगपरीमाणं, तिण्णेव गुणव्वया एए ॥११४॥  
सामाइयं च उववासपोसहो अतिहिसविभागो य ।  
अन्तेसमाहिमरणं, सिक्खासु वयाइं चत्तारि ॥११५॥

—पउमचरिय, उद्देशक १४ ।

२७. पंचेषुव्वायाइं गुणव्वयाइं हवंति तह तिण्णि ।  
सिक्खावय चत्तारि य संजमचरणं च सायारं ॥  
थूले तसकायवहे थूले मोसे अदत्तथूले य ।  
परिहरो परमहिला परिग्गहारंभ परिमाणं ॥  
दिसिविदिसिमाण पढमं अणत्थदंडस्स वज्जणं विदियं ।  
भोगोपभोगपरिमा इयमेव गुणव्वया तिण्णि ॥  
सामाइयं च पढमं विदियं च तहेव पोसहं भणियं ।  
तइयं च अतिहिपुज्जं चउत्थ सल्लेहणा अते ॥

—चरित्तमाहुड, गाथा २३-२६

२८. दश प्रकारा भवनाधिपानां ते व्यन्तरास्त्वष्टविधा भवन्ति ।  
ज्योतिर्गणाश्चापि दशार्धभेदा द्विषट्प्रकाराः खलु कल्पवासाः ॥

—वरांगचरित, ९/२

खण्ड १८, अंक २, (जुलाई-सित०, ९२)

१०३

२९. सीधर्मकलाः प्रथमोपदिष्ट ऐशानकल्पश्च पुनर्द्वितीयः ।  
 सनत्कुमारो द्युतिमांस्तृतीयो माहेन्द्रकल्पश्च चतुर्थ उक्तः ॥  
 ब्राह्मं पुनः पञ्चममाहुरार्यास्ते लान्तवं षष्ठमुदाहरन्ति ।  
 स सप्तमः शुक्र इति प्रसूढः कल्पः सहस्रार इतोद्दिष्टमस्तु ॥  
 यमानतं तन्नवमं बदन्ति स प्राणतो यो दशमस्तु वर्ण्यः ।  
 एकादशं त्वारणमामनन्ति तमारणं द्वादशमच्युतान्तम् ॥

—वरांगचरित' ९/७-८-९

३०. दशाष्टपञ्चद्वादशविकल्पाः कल्पोपपन्नपर्यन्ताः ।

—तत्त्वार्थसूत्र (विवेचक—पं० फूलचंद्रशास्त्री) ४/३ पृ० ११८

देखें—४/१९ में १६ कल्पों का निर्देश है ।

३१. वारस कप्पा केई केई सोलस वदंति आइरिया ॥११५॥

सोहम्मीसाणसणक्कुमारमाहिंदबम्हलंतवया ।

महुमुक्कसहस्सारा आणदपाणदयआरणच्चुदया ॥१२०॥

—तिलोयपण्णत्ती आठवां अधिकार ।

३२. ततो हि गत्वा श्रमणाजिकानां समीपमभ्येत्य कृतोपचाराः ।

विविक्तदेशे विगतानुरागा जह्व्वराङ्गयो वर भूषणानि ॥९३॥

गुणांश्च शीलानि तपांसि चैव प्रबुद्धतत्त्वाः सितशुभ्रवस्त्राः ।

संगृह्य सम्यग्बरभूषणानि जिनेन्द्रमार्गाभिरता बभूवुः ॥९४॥

—वरांगचरित २९, ९३-९४

३३. आवसधे वा अप्पाउग्गे जो वा महद्धिओ हिरिमं ।

मिच्छजणे सजणे वा तस्स होज्ज अववादियं लिगं ॥७८॥

आगे इसकी टीका देखें—'अपवादिकलिगं'—सचेल लिग भगवती आराधना यानी

अपराजित टीका पृ० ११४ ।

३४. हेमन्तकाले धृतिबद्धकक्षा दिगम्बरा ह्यभ्रवकाशयोगाः ।—वरांगचरित, ३०/३२

३५. निरस्तभूषाः कृतकेशलोचाः ।

—वही ३०/२

३६. विशीर्णवस्त्रावृतगात्रयष्टयस्ताः काष्ठमात्रप्रतिमा बभूवुः ।

—वही, ३१/१३

३७. (अ) इत्थीसु ण पावया भणिया ।

—सूत्रप्राभृत २५

(ब) दंसणणाण चरित्ते महिलावग्गम्मि देहि वि वीसट्टो ।

पासत्थ वि हु णियट्टो भाव विणट्टो ण सो समणो ॥

—लिगपाहुड २०

३८. (अ) नरेन्द्रपत्न्यः श्रुतिशीलभूषा.....प्रतिपन्नदीक्षास्तदा बभूवुः

परिपूर्णकामाः ॥३१/१॥ दीक्षाधिराज्यश्रियमभ्युपेता.....॥३१/२॥

(ब) नरवरवनिता विमुच्य साध्वीशमुपययुः स्वपुराणि भूमिपालाः ॥२९/९९॥

(स) व्रतानि शीलान्यमृतोपमानि.....॥३१/४॥

(द) महेन्द्रपत्न्यः श्रमणत्वमाप्य.....॥३१/११३॥

३९. तपोधनानाममितप्रभावा गणाग्रणी संयमनायका सा ।

—वरांगचरित, ३१/६

४०. आहारदानं मुनिपुङ्गवेष्यो, वस्त्रान्नदानं श्रमणार्थिकाभ्यः ।

किमिच्छदानं खलु दुर्गतेभ्यो दत्वाकृतार्थो नृपतिर्बभूव ॥

—वरांगचरित, २३/९२

४१. (अ) .... आपवादिकं लिंगं सचेललिंगं..... ।

—भगवती आराधना टीका, पृ० ११४

(ब) चत्तारिजणां भक्तं उबकप्पेति..... ।

चत्तारिजणा रक्खन्ति दवियमुवकप्पियं तयं तेहि ।

—भगवती आराधना ६६१ एव ६६३

४२. क्रियाविशेषाव्यवहारमात्राह्याभिरक्षाकृषिशिल्पभेदात् ।

शिष्टाश्च वर्णाश्चतुरो वदन्ति न चान्यथा वर्णचतुष्टयं स्यात् ॥

—वरांगचरित, २५/११

४३. ज्ञानं च न ब्रह्म यतो निकृष्टः शूद्रोऽपि वेदाध्ययनं करोति ॥४२॥

विद्याक्रियाचारुगुणैः प्रहीणो न जातिमात्रेण भवेत्स विप्रः ।

ज्ञानेन शीलेन गुणेन युक्तं तं ब्राह्मणं ब्रह्मविदो वदन्ति ॥४३॥

व्यासो वसिष्ठः कमठश्च कण्ठः शकत्युद्गमौ द्रोणपराशरो च ।

आचारवन्तस्तपसाभियुक्ता ब्रह्मत्वमायुः प्रतिसंपदाभिः ॥४४॥

—वरांगचरित सर्ग २५ ।

□ □

तावत् क्रियाः प्रवर्तन्ते

यावद् द्वैतस्य गोचरम् ।

अद्वये निष्कले प्राप्ते

निष्क्रियस्य कुतः क्रिया ॥

—योगीन्द्र के 'अमृताशीति' से

## पुण्यश्लोक वस्तुपाल

वस्तुपाल अणहिलवाड़ पाटन के प्राग्वाट वंशी अश्वराज और कुमारदेवी के पुत्र थे। अश्वराज सिद्धराज जयसिंह के सचिव सोम के पुत्र थे और कुमारदेवी उनके दण्डपति आभू की पुत्री। स्वयं अश्वराज भी सचिव पद पर नियुक्त हुए।

वस्तुपाल के तीन भाई और सात बहिनें थीं। संभवतः विक्रमी संवत् १२४९ तक वे मण्डली (वर्तमान माण्डल) में रहे और अपनी माता की मृत्यु के बाद धवलकका आये और वहाँ कवि सोमेश्वर द्वारा परिचय कराये जाने पर राजा वीर धवल के सचिव नियुक्त हुए। इससे पूर्व 'नरनारायणानन्द' (१६.३५) के अनुसार वह गुर्जर महीपति भीम के सचिव थे।

वस्तुपाल जैन थे किन्तु उनमें सर्वधर्मसमभाव का अतिरेक था। कीर्तिकौमुदी (४.४०) कहती है—

नानर्च भक्तिमान्नेमौ नेमौ शंकरकेशवी।

जैनोऽपि यः सवेदानां दानारम्भः कुरुते करे ॥

इसी प्रकार पुरातन प्रबन्ध संग्रह में उनके लिए लिखा गया है—

बौद्धबौद्धो वैष्णवैर्विष्णुभक्तः शैवैः शिवो योगिभिर्योगरंगः।

जैनैस्तावज्जैन एवेति कृत्वा सत्त्वाधारः स्तूयते वस्तुपालः ॥

—इसीलिये वह सोमेश्वर, हरिहर, नानाक, मशोवीर, सुभट, अरिसिंह, अमर चन्द्रसूरि, विजयसेनसूरि, उदयप्रभसूरि, जिनभद्र, नरचन्द्रसूरि, नरेन्द्रप्रभसूरि, बालचन्द्र, जयसिंहसूरि, माणिक्यचन्द्र आदि अनेकों विद्वान् कवियों के आश्रयदाता बनें।

वस्तुपाल धोलका अथवा धवलकका के वाघेला नरेश के महामात्य थे और राजनीति के साथ साहित्य जगत् के विराट् व्यक्तित्व। उनके साहित्य-स्रजन और साहित्यकार-संरक्षण से अनेकों विद्वान् अभिभूत हैं। संभवतः सर्वप्रथम प्रो० ए. वी. काठवटे ने उनके जीवन और कर्तृत्व पर कीर्तिकौमुदी की भूमिका में लिखा जो सन् १८८३ में छपी। डॉ० ब्रह्मर ने सन् १८८९ में जर्मन में 'सुकृतसंकीर्तन' पर लिखे लेख में उनका परिचय दिया। बम्बई गजट सन् १८९६ में छपा तो उसकी पहली जिल्द के पहले भाग में उन पर पूरा एक अध्याय लिखा गया। दीवान बहादुर रण छोड़ भाई द्वारा रासमाला में परिशिष्ट सन् १८९९ में लिखा गया। वल्लभजी हरिदत्त आचार्य ने कीर्तिकौमुदी का गुजराती अनुवाद सन् १९०८ में किया। चिमनलाल डी० दलाल ने वस्तुपाल के नरनारायणानन्द, बालचन्द्र के बसन्त विलास, और जयसिंह सूरि के हम्मीरमदमर्दन पर अपने विचार सन् १९३९ में प्रकाशित किये।

तदुपरांत भी वस्तुपाल के व्यक्तित्व और कर्तृत्व पर बहुत लिखा गया है और लिखा जा रहा है। वस्तुतः यह अनोखा व्यक्तित्व है जो राजा न होते हुए भी साहित्य और संस्कृति का परम पोषक और स्वयं साहित्य और संस्कृति की सेवा में दत्तचित्त रहा है।

—परमेश्वर

## ‘वसन्तविलास’ में वर्णित ऐतिहासिक तथ्यों का महत्त्व

□ डॉ० केशव प्रसाद गुप्त

जैन-संस्कृत वाङ्मय के ऐतिहासिक महाकाव्यों में ‘वसन्तविलास’ महाकाव्य का महत्त्वपूर्ण स्थान है। इस महाकाव्य में गुजरात के चौलुक्यवंशी नरेश वीरवधल के इतिहास-प्रसिद्ध महामात्य वस्तुपाल के जीवन-चरित पर विस्तार से प्रकाश डाला गया है। वस्तुपाल के अपर नाम वसन्त या वसन्तपाल<sup>१</sup> के आधार पर महाकाव्य का नाम ‘वसन्तविलास’ रखा गया है। गुजरात के मध्यकालीन इतिहास की जानकारी के लिये यह महाकाव्य अत्यन्त उपयोगी है।

तेरहवीं शताब्दी के मध्यकाल में मूलतः ताड़पत्रों पर लिखे गये ‘वसन्तविलास’ महाकाव्य के रचयिता चन्द्रगच्छीय जैनाचार्य हरिभद्रसूरि के शिष्य बालचन्द्रसूरि हैं। चौदह सग्यों में निबद्ध इस महाकाव्य में उच्चकोटि की साहित्यिकता भी विद्यमान है। ‘वसन्तविलास’ महाकाव्य में उपलब्ध ऐतिहासिक विवरण अग्राङ्कित शीर्षकों के अन्तर्गत प्रस्तुत किया जा रहा है—

### आदिपुरुष ‘चौलुक्य’ की उत्पत्ति

‘चौलुक्य’ शब्द ‘चालुक्य’ शब्द का संस्कृत रूप है। गुजरात के सोलंकी क्षत्रियों के लिए अब तक चौलुक्य ताड़पत्रों में जो वंशावली दी हुई है, उन सबमें एक ही शब्द ‘चौलुक्य’ का प्रयोग किया गया है।<sup>२</sup> चौलुक्य वंश की उत्पत्ति के सम्बन्ध में वसन्तविलास महाकाव्य में कहा गया है कि बहुत समय पहले राक्षसों के समूह से संसार की रक्षा करने के लिए क्षीर सागर से विष्णु की तरह ब्रह्मा के सन्ध्या-पूजन के समय उनके चुलुक-जल से हाथ में तलवार लिए हुए एक वीर पुरुष की उत्पत्ति हुई।<sup>३</sup> उसका नाम ‘चौलुक्य’ हुआ। उसने राक्षसों का संहार करके समस्त पृथ्वी पर शासन किया।<sup>४</sup>

चौलुक्यों की उत्पत्ति विषयक मान्यताओं में ‘चुलुक सिद्धांत’ एक महत्त्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह करता है। इस सिद्धांत के समर्थकों ने इस वंश के आदि पुरुष की उत्पत्ति ब्रह्मा के चुलुक-जल से मानी है। वसन्तविलास महाकाव्य के उक्त वर्णन से मिलता-जुलता विवरण कश्मीरी कवि विल्हण ने ‘विक्रमाङ्कदेवचरित’ (वि.स. ११४३) महाकाव्य में दिया है। तदनुसार ब्रह्मा के चुलुक-जल से एक वीर पुरुष उत्पन्न हुआ जिसके वंश में हरीत और मानव्य हुए। इन क्षत्रियों ने पहले अयोध्या में शासन किया। तदनन्तर, दक्षिण दिशा में एक के बाद दूसरी विजय करते हुए आगे बढ़े।<sup>५</sup> यही सिद्धांत अल्प परिवर्तन के साथ कुमारपाल की वडनगर प्रशस्ति<sup>६</sup>, द्वयाश्रयकाव्य<sup>७</sup>

खण्ड १८, अंक २, (जुलाई-सित०, १२)

१०७

प्रबन्धचिन्तामणि<sup>१</sup> प्रभृति जैन ग्रन्थों में भी वर्णित है ।

कतिपय शिलालेखों, ताम्रपत्रों एवं ग्रन्थों द्वारा प्राप्त प्रमाणों से ज्ञात होता है कि चौलुक्य नरेशों का सम्बन्ध चन्द्रवंश से था, परन्तु वसन्तविलास महाकाव्य में वर्णित चौलुक्यों की उत्पत्ति सम्बन्धी विवरण में कवि ने यहाँ पौराणिक शैली का आश्रय लिया है जिसका उल्लेख तत्कालीन विभिन्न ग्रन्थों में प्राप्त होता है ।

### चौलुक्यवंशी शासक

वसन्तविलास महाकाव्य का तृतीय सर्ग इतिहास की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है । इस सर्ग में अणहिलवाड़पाटन की राजगद्दी पर शासन करने वाले चौलुक्यवंशी नरेशों का क्रमबद्ध संक्षिप्त इतिहास वर्णित है ।

आदि पुरुष चौलुक्य द्वारा संस्थापित वंश में सर्वप्रथम मूलराज नाम का अत्यन्त प्रभावशाली शासक हुआ । वह राजाओं का मुकुटशिरोमणि था और दुश्मनों को नष्ट करने वाला तथा चतुर्दिक् विस्तृत कीर्ति वाला था । वह प्रति सोमवार को सोमेश्वर की तीर्थ-यात्रा करता था ।<sup>१०</sup>

मूलराज के पश्चात् उसका पुत्र चामुण्डराज राजगद्दी पर बैठा । वह एक यशस्वी और वीर शासक था । उसने अपने समस्त दुश्मनों को पराजित किया ।<sup>११</sup>

इसके बाद चामुण्डराज के पुत्र बल्लभराज ने सत्ता की वागडोर सम्भाली । उसे 'जगज्भ्रम्पन' (संसार को कंपा देने वाला) कहा गया है । वह अत्यन्त पराक्रमी और शत्रुओं का विनाशक था ।<sup>१२</sup>

बल्लभराज के बाद दुर्लभराज राजगद्दी का स्वामी हुआ । वह एक धार्मिक प्रकृति का राजा था । उसका चरित्र अत्यन्त उच्चकोटि का था ।<sup>१३</sup>

तदनन्तर, भीम ने अणहिलवाड़पाटन की गद्दी को सम्भाला । उसने अवन्तिनरेश भोज को युद्ध में पराजित किया ।<sup>१४</sup>

भीम के पश्चात् उसका पुत्र कर्ण सिंहासनासीन हुआ । वह एक विलासी तथा पर स्त्री पर आसक्त राजा था । अपनी पत्नी के प्रति उसका लगाव बहुत कम था ।<sup>१५</sup>

कर्ण के बाद उसका पुत्र जयसिंहदेव राजगद्दी पर बैठा । उसने धारानगरी पर विजय प्राप्त कर वहाँ के राजा को बन्दी बनाया और उज्जयिनी को जीतकर वहाँ से योगिनी-पीठ को अपने नगर ले आया । जयसिंह ने बर्बरक नामक बैताल को भी पराजित किया । इसीलिए उसे 'सिद्धराज' की उपाधि प्राप्त हुई ।<sup>१६</sup>

सिद्धराज जयसिंह का उत्तराधिकारी कुमारपाल हुआ । उसने केदार तथा सोमेश्वर तीर्थों का जीर्णोद्धार और अनेक बिहारों का निर्माण कराया । उसने माल-वनरेश बल्लाल, तथा जांगल एवं कोंकण के राजाओं को पराजित किया । कुमारपाल ने उत्तराधिकारहीनों की सम्पत्ति का अधिग्रहण करना भी त्याग दिया ।<sup>१७</sup>

कुमारपाल के बाद अजयपाल गद्दी पर बैठा । वह एक पराक्रमी और आकर्षक व्यक्तित्व-सम्पन्न शासक था । जांगल के राजा ने अजयपाल को विशिष्ट उपहार दिया था ।<sup>१८</sup>

तत्पश्चात् अजयपाल के पुत्र शिशुमूलराज (मूलराज द्वितीय) ने सिंहासन ग्रहण

किया। बाल्यावस्था में ही उसने म्लेच्छ राजा को पराजित किया और छोटी ही उम्र में उसकी मृत्यु हो गयी।<sup>19</sup>

शिशुमूलराज की मृत्यु के बाद उसके छोटे भाई भीम (भीम द्वितीय) ने राज्य-भार को ग्रहण किया। वह अपनी प्रशासनिक कमजोरी के कारण राज्य की स्थिति को सम्भालने में असमर्थ रहा। फलस्वरूप उसके मण्डलीकों ने शासन में हस्तक्षेप एवं विद्रोह करना प्रारम्भ कर दिया।<sup>20</sup>

### वधेलाशाखा का उद्भव

उक्त चौलुक्य नरेशों के अतिरिक्त वसन्तविलास महाकाव्य में कुछ अन्य चौलुक्य शासकों का भी वर्णन प्राप्त होता है जिन्हें इतिहासकार चौलुक्यों की वधेलाशाखा के अन्तर्गत मानते हैं।<sup>21</sup> यद्यपि महाकाव्य में इस शाखा के शासकों के प्रभुत्व में आने के समय का विवरण नहीं दिया गया है, फिर भी इन्होंने किन परिस्थितियों में सत्ता सम्भाली, इसका स्पष्ट रूप से उल्लेख मिलता है।

जिस समय भीम द्वितीय के मण्डलीकों ने राज्य में आन्तरिक विद्रोह आरम्भ किया और भीम द्वितीय उसे दबाने में असमर्थ हुआ, उसी समय चौलुक्य वंशी 'धवल' के पुत्र अर्णोराज ने आततायियों से भीम के राज्य की रक्षा की और अपने पराक्रम से उनका दमन किया।<sup>22</sup> उसके पश्चात् अर्णोराज का पुत्र लवणप्रसाद एक अत्यन्त पराक्रमी एवं युद्ध-कला में कुशल योद्धा हुआ। उसके पराक्रम से सभी दिशाओं के राजागण भयभीत हुए। केरल, लाट, मालव, अन्ध्र, काञ्ची, कोंकण, जांगल, पाण्ड्य, कुन्तल, वङ्ग तथा कर्लिंग देश के राजा एवं चौड़ तथा हूण-सभी लवणप्रसाद का लोहा मानते थे।<sup>23</sup>

लवणप्रसाद का पुत्र वीरधवल हुआ। वह एक वीर और शत्रुओं को नष्ट करने वाला शासक था। उसने अपने साम्राज्य में अव्यवस्था उत्पन्न करने वाले मंडलीकों का दमन करने में अपने पिता लवणप्रसाद का सहयोग किया और अत्यधिक कीर्ति अर्जित की।<sup>24</sup>

वसन्तविलास महाकाव्य में वर्णित उपर्युक्त तथ्य विविध ऐतिहासिक प्रमाणों से परिपुष्ट होते हैं। वास्तव में भीम द्वितीय को अपने लम्बे शासन काल में अनेक बाहरी एवं आन्तरिक विद्रोहों का सामना करना पड़ा था। ऐसी परिस्थिति में धवल के पुत्र अर्णोराज<sup>25</sup> ने उसकी सहायक की थी। यही से चौलुक्यों की वधेला शाखा का सूत्रपात होता है। सम्भवतः शाखा-परिवर्तन को ही ध्यान में रखकर कवि बालचन्द्रसूरि ने इस स्थल पर अर्णोराज के लिए 'चौलुक्य' शब्द<sup>26</sup> का प्रयोग किया है, जो चौलुक्य का ही पर्याय है।

### वस्तुपाल के पूर्वज

एक बार चिन्तामग्न राजा वीरधवल को रात्रि के समय स्वप्न में राज्यलक्ष्मी का दर्शन हुआ जिसने वस्तुपाल के पूर्वजों का परिचय राजा के समक्ष प्रस्तुत किया। तदनुसार, कुछ समय पूर्व सुपसिद्ध प्राग्वाटवंश में चण्डप नाम का एक महापुरुष हुआ

था।<sup>१०</sup> उसका पुत्र चण्डप्रसाद हुआ जिसने जिनदेव के प्रभाव से महत्त्वपूर्ण कीर्ति अर्जित की।<sup>११</sup> चण्डप्रसाद का पुत्र सोम हुआ जो जिनदेव का परमोपासक था और सिद्धराज (जयसिंह) को ही अपना स्वामी एवं सर्वस्व मानता था।<sup>१२</sup> सोम का पुत्र अश्वराज हुआ जिसने अपनी माता सीता को साथ में लेकर सात बार शत्रुञ्जय तीर्थ की यात्रा की और अनेक कूपों तड़ागों तथा वापियों का निर्माण कराया। उसकी पत्नी का नाम कुमारदेवी था। वह अत्यन्त धार्मिक प्रवृत्ति की महिला थी। अश्वराज को कुमारदेवी के संसर्ग से तीन पुत्र—मल्लदेव, वस्तुपाल एवं तेजपाल हुए। वस्तुपाल एवं तेजपाल सर्वगुण सम्पन्न, परिपुष्ट शरीर वाले तथा वाक्कला में कुशल थे।<sup>१३</sup>

गुजरात के इतिहास के अध्ययन से पता चलता है कि वहाँ के समाज एवं राज-नीति में वणिकों का सदैव से महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है। प्राग्वाट वंश, जिसे पोरवाड़ या मोड़ भी कहा जाता है, विशेष रूप से उल्लेखनीय है। वस्तुपाल के पूर्वज इसी वंश के महत्त्वपूर्ण व्यक्तियों में गिने जाते थे। ये गुजरात की राजनीति में सदैव उच्च पद पर प्रतिष्ठित थे। चंडप, चौलुक्य सम्राट् की सलाहकार समिति का सूर्य माना जाता था।<sup>१४</sup> चण्डप्रसाद, सिद्धराज जयसिंह का मंत्री था।<sup>१५</sup> सोम, सिद्धराज के खजाने का अधिकारी था।<sup>१६</sup> अश्वराज की पत्नी कुमारदेवी भी आभू मंत्री की पुत्री थी जो सिद्धराज के दरबार में दण्डाधिपति पद पर आसीन था।<sup>१७</sup> वस्तुपाल और तेजपाल, भातृयुगल इसी वंश परम्परा के आभूषण थे।

### वस्तुपाल एवं तेजपाल की मन्त्रिपद पर नियुक्ति

वसन्तविलास महाकाव्य में उपर्युक्त स्वप्न में राज्यलक्ष्मी से निर्देश प्राप्त होने पर राजा वीरधवल भ्रातृयुगल को दरबार में उपस्थित होने का निर्देश भेजता है और प्रातःकाल वीरधवल के आदेश पर वस्तुपाल और तेजपाल दरबार में उपस्थित होते हैं। राजा उनकी कुलीनता, विनम्रता, योग्यता और व्यवहार-कुशलता आदि से प्रभावित होकर उनसे मन्त्रीपद सम्भालने का आग्रह करता है।<sup>१८</sup> वस्तुपाल राजा के समक्ष न्याय करने, लालच त्यागने, चाटुकारों से दूर रहने और शांति के मार्ग का अनुसरण करने की विनय करता है और राजा द्वारा स्वीकार कर लिए जाने पर वह अनुज सहित मन्त्रीपद ग्रहण कर लेता है।<sup>१९</sup>

वसन्तविलास महाकाव्य में वर्णित उपर्युक्त तथ्य की पुष्टि 'कीर्तिकौमुदी' तथा 'प्रबन्धचिन्तामणि' ग्रन्थों से होती है।<sup>२०</sup> 'सुकृतसंकीर्तन' के अनुसार वस्तुपाल एवं तेजपाल भीम की सेवा में पहले से लगे हुए थे। वीरधवल के अनुनय विनय पर भीम ने उन्हें वीरधवल को दे दिया था।<sup>२१</sup> यही विवरण 'नरनारायणानन्द' महाकाव्य में भी प्राप्त होता है।<sup>२२</sup> इस प्रकार स्पष्ट है कि राजा वीरधवल द्वारा वस्तुपाल व तेजपाल की मन्त्रीपद पद नियुक्ति विशेष आग्रहपूर्वक ही की गयी थी।

### वीरधवल का लाट प्रदेश पर आक्रमण

वसन्तविलास के चतुर्थ सर्ग में राजा वीरधवल द्वारा लाटदेश में स्थित स्तम्भ-तीर्थ (Cambay) पर आक्रमण कर उसे अपने अधिकार में लेने की घटना वर्णित है।



स्तम्भतीर्थ समुद्र-तट पर स्थित, लाट देश का एक समुद्री पत्तन था जो उस समय व्यापारिक दृष्टि से अत्यन्त समृद्ध एवं महत्त्वपूर्ण था।<sup>४०</sup> इस पर राजा वीरधवल ने बलपूर्वक अधिकार किया<sup>४१</sup> और वस्तुपाल को वहाँ का मण्डलाधिप (गवर्नर) नियुक्त कर वहाँ का शासन उसे सौंप दिया था।<sup>४२</sup>

इस घटना का ऐतिहासिक विश्लेषण करने के लिए कुछ महत्त्वपूर्ण तथ्यों का उल्लेख आवश्यक है। स्तम्भतीर्थ उस समय लाट देश के अधीन था और लाट का शासक चाहमानवंशी राजा 'शंख' था। वस्तुतः, वीरधवल के आक्रमण के समय शंख वहाँ उपस्थित नहीं था। देवगिरि के शासक यादवराज सिंह ने लाट पर दो बार आक्रमण किया। प्रथम बार उसे शंख से पराजित होना पड़ा था, लेकिन दूसरे युद्ध में उसने शंख को वन्दी बना लिया था।<sup>४३</sup> शंख की इसी अनुपस्थिति में वीरधवल ने स्तम्भतीर्थ को अपने अधिकार में कर लिया। सम्भवतः इसीलिए महाकाव्य में इस आक्रमण के सन्दर्भ में किसी प्रकार के संघर्ष का उल्लेख नहीं किया गया है। यह घटना वि० सं० १२८५-८६ के आस-पास की प्रतीत होती है, क्योंकि यादवराज ने लाट देश पर दूसरी बार वि० सं० १२८५ (१२१९ ईसवी) में आक्रमण किया था।<sup>४४</sup>

### मारवाड़ के राजाओं और लूणसाकनरेश के मध्य युद्ध

महाकाव्य के पंचम सर्ग में मारवाड़ के राजाओं और लूणसाक नरेश के मध्य युद्ध होने का उल्लेख है। इस युद्ध में मारवाड़ के कई राजाओं ने मिलकर एक साथ लूणसाक नरेश का सामना किया था। इसीलिए उनका पक्ष प्रबल हो गया था। फलतः लूणसाक नरेश की सहायतार्थ राजावीरधवल को भी ससैन्य युद्ध-भूमि में जाना पड़ा।<sup>४५</sup> महाकाव्य में इस युद्ध के कारणों का स्पष्ट निर्देश नहीं है, तथापि ऐसा अनुमान है कि लूणसाक नरेश की बढ़ती हुई शक्ति से मारवाड़ के राजागण आतंकित थे। इसीलिए उन्होंने आपसी विरोध को त्यागते हुए एक साथ मिलकर उसका दमन करना चाहा।

इस युद्ध में वीरधवल सबल होते हुए भी मारवाड़ के राजाओं से घिर गया था,<sup>४६</sup> जिससे महामात्य वस्तुपाल भी चिन्तित था।<sup>४७</sup> उस समय स्तम्भतीर्थ की रक्षा में नियुक्त वस्तुपाल इस युद्ध में नहीं गया था, क्योंकि लाट देश के राजा शंख से भी उसे सावधान रहना आवश्यक था।

'कीर्तिकौमुदी' में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि इस युद्ध में मारवाड़ के चार राजाओं ने भाग लिया था। लूणसाक नरेश ने किसी तरह इन राजाओं से सन्धि कर कर ली थी।<sup>४८</sup> सुन्धा पहाड़ी के एक अभिलेख से प्राप्त सूचना के अनुसार मारवाड़ के इन राजाओं में एक जालोर का चाहमान शासक उदयसिंह भी था।<sup>४९</sup> जयसिंहसूरि विरचित वस्तुपालतेजःपाल प्रशस्ति में वीरधवल को मारवाड़ के राजाओं का प्रतिद्वन्द्वी कहा गया है।<sup>५०</sup> डॉ० गुलाबचन्द्र चौधरी के लेख से ऐसा प्रतीत होता है कि लूणसाक-नरेश, राजावीरधवल का पिता लवणप्रसाद ही था।<sup>५१</sup> इस युद्ध में लूणसाकनरेश की सहायता के लिए वीरधवल के युद्ध-भूमि में जाने से उक्त मत की पुष्टि होती है, लेकिन

तत्कालीन ग्रन्थों में लूणसाकनरेश के विस्तृत परिचय का अभाव है ।

### वस्तुपाल की भृगुकच्छ के शासक शंख पर विजय

वसन्तविलास महाकाव्य के पञ्चम सर्ग में वस्तुपाल और शंख के मध्य होने वाले युद्ध का विस्तार से वर्णन किया गया है । तदनुसार जिस समय वीरधवल, लूणसाकनरेश और मारवाड़ के राजाओं के मध्य होने वाले युद्ध में गया था, उसी समय लाट देश के चाहमान शासक शंख ने स्तम्भतीर्थ पर आक्रमण कर दिया था ।<sup>१३</sup> उस समय स्तम्भतीर्थ पर वस्तुपाल प्रशासन कर रहा था ।

सर्वप्रथम शंख वस्तुपाल के पास दूत भेजता है जो वस्तुपाल को प्रलोभन देते हुए उसके समक्ष सन्धि का प्रस्ताव रखता है । तत्पश्चात् दूत वस्तुपाल को शंख के पराक्रम से भयभीत कराते हुए युद्ध की चुनौती भी देता है ।<sup>१४</sup> वस्तुपाल सन्धिवार्ता को ठुकराकर युद्ध की चुनौती सोत्साह स्वीकार कर लेता है । फलस्वरूप शंख और वस्तुपाल के मध्य भीषण संग्राम होता है ।

इस युद्ध में जब वस्तुपाल के सैनिकों ने शंख की सेना को नष्ट करना प्रारम्भ कर दिया । शंख के अनेक सैनिक मारे गये और बहुत से घायल हुए तब शंख अपने ही समान बलशाली अपने भाइयों सहित युद्ध-भूमि में उतर पड़ा, जिससे एक बार पुनः युद्ध में भयंकरता आ गयी । शंख के भाइयों ने वस्तुपाल के वीरम आदि प्रमुख योद्धाओं को मार डाला ।<sup>१५</sup> तत्पश्चात् वस्तुपाल का वीर सेनानायक भुवनपाल शंख को मारने की प्रतिज्ञा करके युद्ध-स्थल में आया । उसने अपने भाले से शंख पर प्रहार किया, लेकिन शंख ने उसके भाले को टुकड़े-टुकड़े कर डाला और भुवनपाल को मौत के घाट उतार दिया ।<sup>१६</sup> इसके बाद क्रुद्ध वस्तुपाल एक बहुत बड़ी सेना लेकर शंख का सामना करने आया । उसकी विशाल सेना को देखते ही भयभीत शंख युद्ध-भूमि को छोड़कर राजधानी भृगुकच्छ को वापस हो गया । इसप्रकार इस युद्ध में विजयश्री महामात्य वस्तुपाल को प्राप्त हुई ।<sup>१७</sup>

उपर्युक्त युद्ध का विवरण अन्य ग्रन्थों में भी प्राप्त होता है ।<sup>१८</sup> मेरुतुङ्गाचार्य कृत प्रबन्धचिन्तामणि से ज्ञात होता है कि स्तम्भतीर्थ के प्रसिद्ध व्यापारी सईद से वस्तुपाल का विरोध हो जाने के कारण, उसी ने शंख को वस्तुपाल से युद्ध करने के लिए आमंत्रित किया था ।<sup>१९</sup> इस युद्ध की तिथि का निश्चित उल्लेख कहीं नहीं मिलता है लेकिन अनुमान है कि वि० सं० १२७९ में वस्तुपाल के पुत्र जैत्रसिंह के खम्भात के गर्वनर पद पर नियुक्त होने से पूर्व यह युद्ध हुआ था ।<sup>२०</sup>

### वस्तुपाल की मृत्यु

वसन्तविलास महाकाव्य में महामात्य वस्तुपाल के उत्तरकालीन जीवन का विवरण भी प्रस्तुत किया गया है । चाहमान शासक शङ्ख पर विजयोपरान्त उसके जीवन की प्रमुख घटना उसकी धार्मिक यात्रा है । इस यात्रा में संघ बनाकर उसने संघाधिपति के रूप में विमलगिरि (शत्रुञ्जय पर्वत) पर आदिनाथ,<sup>२१</sup> प्रभासपाटन में सोमनाथ<sup>२२</sup> तथा रैवतकगिरि (गिरिनार पर्वत) पर नेमिनाथ<sup>२३</sup> की यात्रा की । यात्रा के

दौरान उसने रास्ते में पड़ने वाले तीर्थस्थानों की मरम्मत, सफाई, साज-सज्जा, मन्दिरों का जीर्णोद्धार एवं मूर्तियों की पूजा की<sup>१४</sup> और दीन-दुःखियों तथा ब्राह्मणों को रत्नादि का दान किया।<sup>१५</sup> तीर्थयात्रा से वापस आने पर उसकी धार्मिक भावना और अधिक प्रबल हो गयी। उसने प्रत्येक ग्राम, नगर, पत्तन एवं पर्वतादि को धार्मिक वातावरण से परिपूर्ण कर दिया।<sup>१६</sup> इतना ही नहीं, उसने विविध चैत्यों, पोषधशालाओं, कूपों एवं सरोवरों का निर्माण भी कराया।<sup>१७</sup> इसप्रकार उसका उत्तरकालीन जीवन धर्म-कर्म के विस्तार में ही व्यतीत हुआ।

कवि बालचन्द्रसूरि ने वस्तुपाल की मृत्यु की घटना को एक नाटकीय ढंग से व्यक्त किया है। तदनुसार वस्तुपाल, धर्म की पुत्री सद्गति का पाणिग्रहण करने के लिए वि० सं० १२९६, माघ, कृष्णा, पंचमी, रविवार को प्रातःकाल शत्रुञ्जय पर्वत पर जाता है।<sup>१८</sup> वहाँ आदिनाथ के मंदिर में मूर्ति के समक्ष पाणिग्रहण के पश्चात् वह सद्गति के साथ स्वर्ग पहुंचता है, जहाँ देवगण उसकी स्तुति करते हैं।<sup>१९</sup>

वस्तुपाल के अंतिम समय एवं मृत्यु आदि से सम्बन्धित घटनाओं के सम्बन्ध में कई ऐतिहासिक प्रमाण उपलब्ध हैं। 'वाट्सन म्यूजियम, राजकोट' के एक शिलालेख में उसकी विमल और रैवतक पर्वतों की यात्राओं का स्पष्ट विवरण दिया गया है।<sup>२०</sup> 'सुकुतकीर्तिकल्लोलिनी' प्रभृति ग्रन्थों में उसके धार्मिक कृत्यों की भूरि-भूरि प्रशंसा की गयी है।<sup>२१</sup> प्रबन्धकोश के अनुसार वस्तुपाल की मृत्यु वि० सं० १२९८ में 'अंकेवालिया' नामक स्थान पर हुई थी।<sup>२२</sup> प्रबन्धचिन्तामणि में भी वस्तुपाल की मृत्यु इसी स्थान पर बतलायी गयी है।<sup>२३</sup> यह स्थान धवल्लका नगर एवं शत्रुञ्जय पर्वत के मध्य में स्थित है। यही पर वस्तुपाल के पुत्र जैत्रसिंह एवं उसके अनुज तेजपाल ने वस्तुपाल की मृत्यु के उपरान्त स्वर्गारोहण मंदिर का निर्माण कराया था।<sup>२४</sup> अतएव वस्तुपाल की मृत्यु का स्थान 'अंकेवालिया' मानना ज्यादा तर्कसंगत प्रतीत होता है। वसन्तविलास महाकाव्य के सम्पादक सी० डी० दलाल महोदय ने एक पुरानी हस्तलिखित प्रति के आधार पर वस्तुपाल की मृत्यु सं० १२९६ में ही स्वीकार की है—'सं० १२९६ महं० वस्तुपालो दिवंगतः।'<sup>२५</sup> इससे वसन्तविलास महाकाव्य में उल्लिखित वस्तुपाल की मृत्यु-तिथि की पुष्टि होती है। वस्तुतः वस्तुपाल की मृत्यु-तिथि का इससे अधिक स्पष्ट उल्लेख अन्यत्र दुर्लभ है।

## महाकाव्य का महत्त्व

वसन्तविलास महाकाव्य के रचयिता बालचन्द्रसूरि काव्य-नायक वस्तुपाल के समसामयिक कवि थे। अतएव इस महाकाव्य में वर्णित ऐतिहासिक घटनाओं की सत्यता के सम्बन्ध में संदिग्धता के अवसर बहुत कम हैं। गुजरात के मध्यकालीन इतिहास की जानकारी के लिए यह महाकाव्य अत्यन्त उपयोगी है। इसमें मूलराज प्रथम से लेकर भीम द्वितीय तक ग्यारह चौलुक्य नरेशों का क्रमबद्ध इतिहास वर्णित है। इसी क्रम में चौलुक्यों की वधेलाशाखा एवं वस्तुपाल के पूर्वजों के वर्णन के पश्चात् वस्तुपाल एवं तेजपाल की मन्त्रीपद पर निपुक्त सम्बन्धी घटना पर भी प्रकाश डाला

गया है। इसमें वस्तुपाल एवं शंख के मध्य होने वाले युद्ध की विस्तृत विवेचना की गयी है। कुछ अन्य महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक घटनाएं यथा—वीरधवल द्वारा लाट देश पर आक्रमण, मारवाड़ के राजाओं एवं लूणसाकनरेश के मध्य युद्ध, अम्बड द्वारा कोंकण-नरेश मल्लिकार्जुन का वध<sup>७१</sup> एवं यादव राजसिंहण तथा शंख के मध्य युद्ध<sup>७२</sup> आदि मुख्य कथा क्रम में स्वतः आ गयी हैं। इस प्रकार वनसतविलास महाकाव्य में वर्णित समस्त तथ्य सुकृतसंकीर्तन, कीर्तिकौमुदी, कुमारपालचरित, वस्तुपाल तेजःपाल प्रशस्ति, प्रबन्धकोश, प्रबन्धचिन्तामणि आदि जैन ग्रन्थों द्वारा तथा विभिन्न शिलालेखीय प्रमाणों से प्रामाणिक सिद्ध होते हैं।

वस्तुतः महामान्य वस्तुपाल के जीवन-चरित को लक्ष्य करके विविध काव्यों, महाकाव्यों, स्तुतिकाव्यों एवं कथाओं की रचना की गयी है, परन्तु, कवि बालचन्द्रसूरि, विरचित वसन्तविलास महाकाव्य में जो स्पष्टता, भव्यता एवं तथ्यों की प्रामाणिकता विद्यमान है, वह अन्यत्र समुपलब्ध नहीं है। □

### सन्दर्भ :

१. गा० ओ० सि०, बड़ौदा १९१७,
२. श्यातं प्राप वनसतपाल इति यो नाम द्वितीयं मुदा । नरनारायणनन्द, १६।३८,
३. इण्डियन एण्टीक्वेरी, खण्ड-६, पृ० १८१,
४. कश्चित्पुरा दानवदूनविश्वत्राणाय नारायणवत्पयोधे ।  
स्वयम्भुसंध्याचुलुकादुदस्थाद्वीरो विकोसासिविहस्तहस्तः ॥ ब. वि. ३/१
५. वही, ३।२
६. वि० दे० च०; प्रथम सर्ग ।
७. वडनगर प्रशस्ति, श्लोक २-३, एपिग्राफिया इण्डिका, खण्ड-१, पृ० २९६.
८. द्र० का०, श्लोक-२, पृ० ४ टीकाकार अभयतिलकगणि ।
९. प्र० चि०, पृ० १५,
१०. व० वि० ३।३-७,
११. वही, ३।८-९,
१२. वही, ३।१०-११
१३. वही, ३।१२-१३
१४. वही, ३।१४-१६
१५. व० वि० ३/१७-२०
१६. वही, ३/२१-२३
१७. वही, ३/२४-३०
१८. वही, ३/३१-३३
१९. वही, ३/३४-३५
२०. वही, ३/३६-३७
२१. डॉ० गुलाबचन्द्र चौधरी, पो० हि० आ० ना० इ० फ्राम जै० सो०, पृष्ठ ३३२;  
एवं भावनगर इन्सक्रिप्शन, पृ० २१४,
२२. व० वि०, ३/३८-४०,
२३. ३/४१-४५
२४. वही, ३/४६-४०
२५. आनाकनामा मातृस्वस्त्रीयः । प्र० चि०, पृ० ९४
२६. व० वि० ३/३८,
२७. वही, ३।५३,
२८. वही, ३/५४
२९. वही, ३/५५-५७,
३०. व० वि० ३/५८-६५
३१. नरनारायणनन्द १६/३,

३२. सुकृतकीर्तिकल्लोलिनी श्लोक १०४, ३३. की० कौ०, ३/९  
 ३४. नरनारायणानंद १६०१५ ३५. व० वि० ३/५१-७३  
 ३६. वही, ३/७९-८२  
 ३७. की० कौ०, ३/५१-७८; प्र० चि० ९८-९९  
 ३८. तुभ्यं समर्पयिस्यामि मंत्रिणी तौ तु मित्रयोः । सु० सं० ३/५७  
 ३९. वस्तुपाल, नरनारायणानंद, १६/३५, ४०. व० वि० ४/१८-२३  
 ४१. एकदा वीरधवलः प्रसह्यासह्यविक्रमः ।  
 तद्विगृह्य समादत्त लङ्कामिव रघूद्वहः ॥ वही, ४/२४  
 ४२. वही, ४/२५ ४३. वही, ५/४२  
 ४४. पो० हि० आ० ना० इ० फ्राम जै० सो०, पृ० ३०४  
 ४५. लूणनाकनृपतेरथ साकं मारवैः समभवद्विगृहीतिः ।  
 तत्र वीरधवलोऽपि बलोपक्रांतवैरिनिगमः स जगाम ॥ व० वि०, ५/१५,  
 ४६. वही, ५/२४, ४७. वही, ५/३७,  
 ४८. की० कौ०, ४/५५,  
 ४९. डॉ० गुलाबचन्द्र चौधरी, पोलेटिकल हिस्ट्री आफ नादंन इण्डिया, फ्राम जै०  
 सोर्सिज, पृ० ३०५  
 ५०. व० ते० प्रशस्ति-श्लोक ५५, ५१. पो० हि० आ० ना० इ० फ्राम  
 जै० सो०, पृ० ३०५  
 ५२. व० वि०, ५/१५-१६  
 ५३. व० वि० ५/२०-३३, ५४. वही, ५/७४-९६  
 ५५. वही, ५/९६-१०४ ५६. वही, ५/१०५-११०  
 ५७. प्र० चि०, पृ० १०२-१०३, सुकृतकीर्तिकल्लोलिनी, श्लोक १३९,  
 ५८. अथ श्रीवस्तुपालस्य स्तम्भतीर्थं सईदनाम्ना नौवित्तकेन समं विग्रहे सञ्जमाने  
 श्रीभृगुपुराणमहासाधनिकं शंखनादानं श्रीवस्तुपालं प्रति बालकालरूपमानीतवान् ।  
 प्र० चि०, पृ० १०२,  
 ५९. व० वि० भूमिका, पृ० १३.  
 ६०. व० वि०, दशम सर्गं । ६१. वही, एकादश सर्गं ।  
 ६२. वही, त्रयोदश सर्गं । ६३. वही, १०/३४-३५  
 ६४. वही, ११/४२, १०/३८, ६५. वही, १४/२  
 ६६. वही, १४/५-९,  
 ६७. वर्षे हर्षनिषण्णवतिके श्री विक्रमोर्वीभृतः,  
 कालाद्वादशसंख्यहायनशतात् मासेऽत्र माघाह्ववये ।  
 पञ्चम्यां च तिथौ दिनादि समये वारे च भानोस्तदो-  
 द्रोढुं सद्गतिमस्ति लग्नमसमं तत्त्वयतां त्वय्यताम् ॥ वही, १४/३७  
 ६८. वही, १४/५१-५३, ६९. सुकृतकीर्तिकल्लोन्यादि, पृ० ७७

७०. सुकृतकीर्ति कल्लोलिनी, श्लोक-१७२-७३

७१. विक्रमादित्यात् १२९८ वर्षे प्राप्तम् । अंकेवालिया ग्रामं यावत् प्राप । प्र० को० पृ० १२८

७२. प्र० चि० पृ० १२८

७३. वही, पृ० १०५

७४. व० वि० भूमिका, पृ० ८

७५. व० वि० ५।४३

७६. वही, ५।४२.



## वस्तुपाल तेज : पाल प्रशस्तिः

(१)

पीयूषादपि पेशलाशशधरज्योत्सना कलापावपि  
स्वच्छानूतनचूतमंजरिभराद्युल्लसत्सौरभाः ।  
वाग्धेवीमुख सामसूक्त विशदोद्गादपि प्राञ्जलाः  
केषां न प्रथयन्ति चेतसि मुबं श्री वास्तुपालोक्तयः ॥

(२)

चेतः केतकगर्भपत्रविशवंवाचः सुधाबान्धवः  
कीर्तिः कार्तिकमास मांसल शशिज्योत्सनावदातद्युतिः ।  
आश्चर्यं क्षितिरक्षणक्षणविधौ श्रीवस्तुपालस्य  
यत् कृष्णत्वं चरितैरपास्तदुरितैर्लोकेषु भजे भुजः ॥

(३)

सूरो रजेषु चरणे प्रणतेषु सोमो वक्रोऽतिवक्रचरितेषु बुधोऽर्थबोधे ।  
नीतो गुरुः कृतिजने कविरक्रियासु मन्दोऽपि च ग्रहमयो न हि वस्तुपालः ॥  
—कवि उदयप्रभ (स्तंभतीर्थ प्रशस्तिः)

II

उदारः शूरो वा रुचिरवचनो वाऽस्ति न हि वा  
भवत्तुल्यः कोऽपि क्वचिदपि क्षुलुष्येन्द्र सचिवः ।  
समद्भूत भ्रान्ति नियतभवगन्तुं तव यश—  
स्ततिर्गेहे गेहे पुरि पुरि च याता दिशिविशि ॥

(२)

विरचति वस्तुपालश्चुलुष्य सचिवेषु कविषुच प्रवरः ।  
न कदाचिदर्थं हरणं श्री करणे काव्य करणे वा ॥

(३)

तेजः पालः सकल प्रजोपजीभ्यस्य वस्तुपालिस्य ।  
सचिधे विभाति सफलः सरोवरस्येव सहकारः ॥

—कवि सोमेश्वर (गिरनार प्रशस्तिः)

## प्राकृत भाषा के कतिपय अव्यय

□ डॉ० हरिशंकर पांडेय

नञ् एवं वि उपसर्ग पूर्वक गत्यर्थक इण् (इण गतौ) धातु से अच् प्रत्यय करने पर अव्यय शब्द निष्पन्न होता है। 'न व्येति तदव्ययम्' अर्थात् जो कभी व्यय न हो। कोश ग्रंथों में इसके अपरिवर्तनशील, अखण्ड अकाट्य, अविनश्वर, शाश्वत, मितव्ययी आदि अर्थ उपलब्ध होते हैं।

प्रस्तुत सन्दर्भ में व्याकरण शास्त्र के पारिभाषिक शब्द 'अव्यय' का विवेचन अवश्य है जो अपने मूल अर्थ को ही धारण करता है। व्याकरण शास्त्र में अव्यय सदा अपरिवर्तनशील रूप में रहता है केवल सान्धिक विकारों को छोड़कर। सन्धि प्रक्रिया में अव्यय विकृत हो जाते हैं, यथा चैव, एवमेव, अम्हेत्थ आदि।

संसार के आद्य भाषाचार्य महर्षि यास्क ने पदों को चार भागों में विभाजित किया है—नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात। निपात अव्यय का ही अपर अन्विधान है। 'उच्चावचेषु अर्थेषु निपतन्ति इति निपाताः' अर्थात् जो विभिन्न अर्थों में निपतित होते हैं, परन्तु अपरिवर्तनशील रहते हैं और सर्वथा अवििकृत रूप में रहते हैं। अतः यास्क के अनुसार जो अपने स्वरूप में स्थित होते हुए विभिन्न अर्थों को प्रकट करें वे निपात हैं।

भगवान् पाणिनि ने पदों को दो रूपों-सुबन्त और तिङन्त में विभाजित करते हुए अव्ययों को सुबन्त के अन्तर्गत रखा है क्योंकि अविभक्तिक शब्दों को वाक्य में विनियोजन का निषेध है—“अपदं न प्रयुञ्जीत”।<sup>१</sup> शब्दों (प्रकृति, धातु एवं प्रातिपदिक) में सुप् और तिङ् विभक्तियों को लगाकर पद बनाया जाता है और तब वाक्य में प्रयोग किया जाता है। अव्यय के साथ भी विभक्ति प्रयोग अनिवार्य है लेकिन उसका लाप हो जाता है।<sup>१</sup> पाणिनि ने पांच सूत्रों के अन्तर्गत अव्ययों का संकलन किया है :—

१. स्वरादिनिपातमव्ययम्— (१.१.३७)
२. तद्धितश्चासर्वविभक्ति (१.१.३८)
३. कृन्मेजन्तः (१.१.३९)
४. क्त्वातोसुनकसुनः (१.१.४०)
५. अव्ययी मावश्च (१.१.४१)।

महाभाष्यकार ने अव्यय की परिभाषा इस प्रकार दी है :—

खण्ड १८, अंक २, (जुलाई-सित०, ९२)

११७

सदृशं त्रिषु लिङ्गेषु सर्वाणु च विभक्तिषु ।

वचनेषु च सर्वेषु यन्न व्येति तदव्ययम् ॥

अर्थात् जो तीनों लिङ्ग, सभी विभक्तियों एवं वचनों में अविकृत रूप में रहता, है वह अव्यय है ।

सुप्रसिद्ध पालि-वैयाकरण मोग्गलान ने भी अव्यय के इसी स्वरूप की ओर संकेत किया है । उसने अव्यय को 'असंख्य' शब्द से अभिहित कर यह बताया है कि इनके साथ प्रयुक्त सभी विभक्तियों का लोप हो जाता है—“असंख्येहि सन्वास” ।

इस प्रकार यह अवधारित हुआ कि अव्यय अपने एक रूप में अवस्थित होता है । वचन, विभक्ति एवं लिङ्गादि से उसमें किसी प्रकार की विकृति नहीं होती है । सन्धि होने पर किञ्चित् विकृति स्वीकृत है ।

### अव्ययों का वर्गीकरण

यास्क ने अव्ययों (निपातों) को तीन रूपों में वर्गीकृत किया है—१. उपमार्थक—इव, यथा, न, चित्, तु आदि । २. पादपूरणार्थक—उ, खलु, तूनम्, सीम् हि, वा अहो, हं हो । पाली में—अस्सु, खो, पन ह हि आदि । ३. कर्मोपसंग्रहार्थक (अर्थसंग्रहार्थक)—च, वा, समं, सह, आम, णवि, हन्द, जेण-तेण, णइ, चेअ, णवरि, माइं, च, उअ आदि ।

प्राकृत भाषा के अव्ययों को, अध्ययन की सुविधा के लिए तीन भागों में विभाजित कर सकते हैं :—१. तद्धितान्त—वे अव्यय जो तद्धित प्रत्ययों से निष्पन्न हुए हैं—तत्थ, इह, एगया, सव्वओ आदि २. कृदन्त—जो कृतप्रत्ययों के योग से निष्पन्न हुए हैं—वोसिज्ज, णच्चा, अभिभूय, आइक्खउ ३. रूढ—प्रकृति-प्रत्यय आदि विभागों से रहित अव्यय । यथा—च, वा, ण आदि । हेमचन्द्राचार्य ने अपने शब्दानुशासन में ऐसे अव्ययों का निर्देश किया है ।

### कतिपय अव्ययों का विवेचन

अदु (अदुवा)—यह संस्कृत के अथ और अथवा दोनों अव्ययों के अर्थों को धारण करता है । प्राकृत में इसका प्रयोग आनन्तर्य, अब, इससे, अथवा, या आदि अर्थों में हुआ है । पाली भाषा में यह इन्हीं अर्थों में विनिविष्ट है । अथवा—नु सि गन्धब्बो अदु सक्को पुरिन्दो—तू देवता है, गन्धर्व है अथवा इन्द्र है । आचारांग में यह अनेक बार प्रयुक्त हुआ है:—

आनन्तर्य के अर्थ में—“अदु पोरिसि तिरियं भित्ति ।” अथवा—अदु थावरा तसत्ताए ।

अवि—यह संस्कृत अव्यय 'अपि' से निकला है जिसका अर्थ है यह, वाद, और, इतना होने पर, आगे, भी, जब, तब आदि । इंडोजर्मन भाषा में ope, Pi, opi शब्द मिलता है । पाली में बहुशः स्थलों पर 'अपि' का प्रयोग हुआ है । प्राकृत में अवधारण, समुच्चय, संभावना, विलाप, वाक्य के उपन्यास तथा पादपूरण में भी अवि (अपि) का विनियोजन हुआ है । आचारांग के उपधानश्रुत में अनेक स्थलों पर यह शब्द विनियुक्त है—



संभावना अर्थ में—अवि सुब्भि दुब्भि गन्धाइं सदाइं अणेगरूवाइं ।<sup>१८</sup>  
अवि सूइयं वा सुक्कं वा ।<sup>१९</sup>

अवि भाइ महावीरे ।<sup>२०</sup>

अह—यह संस्कृत के 'अथ' अव्यय का प्राकृत रूपांतर है। अब, बाद अथवा, और, मंगल, प्रश्न, समुच्चय, प्रतिवचन, यथार्थता, प्रायः वास्तविकता, पूर्वपक्ष, वाक्य की शोभा बढ़ाने एवं पादपूर्ति के लिए इसका प्रयोग होता है। पाली में अथ और 'अथो' दो अव्यय मिलते हैं—अथाति अविच्छेदनत्थे अथो ति किच्चन्तर संयोजनत्थे तिपातो ।<sup>२१</sup> आचारांग में यह निम्नलिखित अर्थों में विनियुक्त हुआ है :—

आनन्तर्य—अह चक्खुमीया<sup>२२</sup> (तदनन्तर उनके दर्शन से भयभीत) ।

प्रायः—अह लूहदेसिए भते<sup>२३</sup> (प्रायः रक्ष अन्न मिलते थे) ।

अतः—अह गाम कंटए<sup>२४</sup> (अतः ग्राम कंटको को) ।

अहे—यह दिशावाची अव्यय है। संस्कृत अधस् एवं अधरः लैटिन में Interus, गाथिक Under अंग्रेजी Under पाली अधो का अर्द्धमागधी प्राकृत में अहे और अहो दो रूप मिलते हैं परन्तु अहे रूप का ही बाहुल्य है। यथा—अहे विगड़े अहीयासए ।<sup>२५</sup> आचारांग में अनेक स्थलों पर (१.५.६.२, १.६.४.२, १.८.४.१४) प्रयुक्त है। स्थानांग में अहे के स्थान पर अहो—अहो लोगों (स्थानांग ९१) है लेकिन विद्वानों ने इसे अशुद्ध माना है।

इय—(इति, इइ, इय, ति) संस्कृत एवं पाली 'इति', अवेस्ता ipa, लैटिन ita प्राकृत में चार रूपों—'इति, इइ, इय और ति' में मिलता है। यह अव्यय समाप्ति, परिमाण, अवधि, निश्चय, हेतु, एवं, इस प्रकार, देखो, नियम, के रूप में और के सम्बन्ध में आदि अर्थों में प्रयुक्त होता है। 'इति' जब स्वतन्त्र रूप से या किसी वाक्य के आरम्भ में आता हो तो अन्तिम 'इ' के स्थान पर 'अ' शेष मिलता है।<sup>२६</sup> महाराष्ट्री में 'इअ' अर्द्धमागधी एवं जैन महाराष्ट्री में 'इय' रूप पाया जाता है। आचारांग में अनेक स्थलों पर यह रूप प्रयुक्त मिलता है (१.२.१.१, १.२.३.१ आदि)। उपधान श्रुत में 'इस प्रकार' के अर्थ में विनियुक्त है—इय संखाय से महावीरे ।<sup>२७</sup>

इह—यह दिग्वाची अव्यय है। संस्कृत इह, अवेस्ता इद, लैटिन इहि रूप मिलता है जो यहां, इस स्थान पर, इस दशा में, इस लोक में, आदि अर्थों में प्रयुक्त होता है। पाली और शौरसेनी प्राकृत में 'इध' रूप मिलता है। आचारांग में 'इह' रूप विनियुक्त है :—

इह लोइयाइ ।<sup>२८</sup>

इसि—यह संस्कृत 'ईषत्' अव्यय का प्राकृत रूप है जो 'अल्प', 'थोड़ा' आदि के अर्थ में प्रयुक्त होता है। प्राकृत काव्यों में इसके ईस, ईसि और इसि तीन रूप मिलते हैं। अर्द्धमागधी एवं जैन महाराष्ट्री में स्वतन्त्र रूप में आता है लेकिन सन्धि होने पर अनुस्वार युक्त हो जाता है। आचारांग में अनेक स्थलों पर इसके उदाहरण प्राप्त

खण्ड १८, अंक ३, (जुलाई-सित०, ६२)

११९

है—इसि माईय अपडिन्ते ।<sup>११</sup> इसके ह्रस्व और दीर्घ (ईसि, ईसि) दोनों रूप मिलते हैं ।

**एगया**—यह काल वाची तद्धित प्रत्ययान्त अव्यय संस्कृत एकदा का प्राकृत रूप है । एक शब्द से काल अर्थ में दा प्रत्यय करने से एकदा रूप बनता है<sup>१२</sup> जो 'एक समय' 'एकस्मि, समयस्मि' आदि अर्थों में प्रयुक्त होता है । आचारांग में अनेक स्थलों पर यह प्रयुक्त हुआ है :—'एगया वासो .....एगयावासो ।'<sup>१३</sup> इसका एकदा, एककसि. एककसिअं, एककइया (वैकाहः सिसिअं इआ)<sup>१४</sup> आदि रूप मिलते हैं ।

**एयाओ**—यह क्रिया विशेषणात्मक अव्यय है जो सार्वनामिक प्रातिपदिक से व्युत्पन्न है तथा पंचमी विभक्ति के अर्थ में प्रयुक्त होता है । इदम् शब्द से तसिल् प्रत्यय करने पर 'इतः' बनता है और वही अर्धमागधी में एयाओ बन जाता है । यह 'यहां से, अब से, इधर से, इस ओर से आदि अर्थों में प्रयुक्त होता है । पाली में 'इतो' रूप मिलता है—पेत लोकं इतो गता (यहां से प्रेतलोक गयी) ।<sup>१५</sup> आचारांग में एयाओ रूप मिलता है । एयाओ परं पलेहित्ति ।<sup>१६</sup>

**एवं**—संस्कृत का 'एवम्' ही प्राकृत में 'एवं' है । अतः, इसलिए, इस रीति से, इस प्रकार से, इस तरह आदि अर्थों में यह अव्यय प्रयुक्त होता है । पाली त्रिपिटक में उपमा, उपदेश, सम्प्रहर्षण, निन्दा, वचन सम्प्रतिग्रहण, भाकार, निदर्शन तथा अवधारण आदि अर्थों में इसका प्रयोग हुआ है । आचारांग में कई स्थलों पर यह प्रयुक्त है:—

भगवया एवं रियति (१.९.२३)

एवं पि तत्थ विहरंता (१.९.३.६)

एवमक्खायं (१.१.१.१.)

**एवं पि**—संस्कृत एवमपि (एवम् + अपि) का प्राकृत में एवं पि पाली में एवम्पि रूप हो जाता है । इस प्रकार भी उस प्रकार भी आदि अर्थों में यह प्रयुक्त होता है—  
एवं पि तत्थ लाढेहि (१.९.३.८) ।

**खु**—यह संस्कृत अव्यय खलु के अर्थ में प्रयुक्त होता है । हेमचन्द्र<sup>१७</sup> के अनुसार 'हु' और 'खु' निश्चय, वितर्क, संभावना और विस्मय आदि अर्थों में प्रयुक्त होता है । पाली में खलु और खो मिलता है ।<sup>१८</sup> प्राकृत भाषाओं में इसके विभिन्न रूप मिलते हैं—शौरसेनी में खु और क्खु, हु मागधी में, णहु (न खलु) जैन महाराष्ट्री में हु, तथा अर्द्धमागधी में 'हु' और 'खु' दोनों रूप मिलते हैं । आचारांग में 'खु' अनेक अर्थों में प्रयुक्त हुआ है—एवं खु अणुधम्मियं तस्स ।<sup>१९</sup> आदि ।

**णं**—यह रूढ़ अव्यय है जो संस्कृत 'ननु' अर्थ में प्रयुक्त होता है—'णं नन्वर्थे ।'<sup>२०</sup> ननु का प्रयोग निश्चय, आशंका, वितर्क और प्रश्न आदि अर्थों में होता है । इन अर्थों के अतिरिक्त वाक्यालंकार एवं स्वीकारोक्ति के रूप में 'णं' अव्यय प्रयुक्त होता है । अपभ्रंश में णं उपमार्थक है ।<sup>२१</sup> इसका प्रयोग प्रायः ब्राह्मयारम्भ में होता है परन्तु कहीं-कहीं मध्य में भी पाया जाता है—

आरुसिया णं तत्थ हिसिसु ।<sup>२२</sup>

णो—संस्कृत 'न' इण्डो जर्मन ne गार्थिक nenih लैटिन neque का प्राकृत में 'णो' रूप हो जाता है जो निषेध, अभाव, मिश्रण, देश, भाग, निश्चय आदि अर्थों में प्रयुक्त होता है। आचार्य यास्क के अनुमार यह उपमाथक, अव्यय भी है—मृगो न भीम कुचरो गिरीष्ठा" (वह इन्द्र मृग के समान भयंकर, कुचर और पर्वतों पर रहने वाला है)। आचारांग में यह निषेध अर्थ में प्रयुक्त हुआ है:—

णो चेविमेण वत्थेण पिहिस्सामि" (इस वस्त्र से शरीर को नहीं ढकूंगा)।  
नो पमज्जिज्जा" (प्रमाजित न करें)।

तओ—यह तद्धित-प्रत्ययान्त निपात है। संस्कृत का ततः और पाली का ततो प्राकृत में तओ हो जाता है। इसका प्रयोग 'इसके पश्चात्' उसके पश्चात्, अनन्तर उससे, उस कारण से, बाद में आदि अर्थों में होता है। पश्चात् अर्थ का प्रतिपादक उदाहरण द्रष्टव्य है:—अचेलए तओ चाइ" (तदन्तर वस्त्र त्याग कर अचेलक हो गए)। इसका अन्य स्थान पर तए, शौरसेनी में तदो और अपभ्रंश में 'तदु' रूप मिलते हैं।

तत्थ—यह तद्धित-प्रत्ययान्त अव्यय है। संस्कृत तत्र का प्राकृत रूप है। तद् सर्वनाम में त्रल् प्रत्यय करने पर ('सप्तम्यास्त्रल्' सूत्र से) तत्र शब्द निष्पन्न होता है।" प्राकृत में त्रल् प्रत्यय के लिए हि ह और त्थ प्रत्यय का प्रयोग होता है।"

तत्थ तहि तह आदि अव्यय काल एवं देशवाचक हैं। ये 'उस स्थान पर', वहां, सामने, उस ओर, उस अवसर पर, उन परिस्थितियों में, उसके लिए, आदि अर्थों में प्रयुक्त होते हैं। पाली व्याकरण के अनुसार तत्थ, देश और काल का निरूपक है—  
तत्रादि देश काल परिदीपनं।" आचारांग सूत्र में इसका अनेक स्थलों पर प्रयोग हुआ

आरुसिया णं तत्थ हिंसिमु (१.९.१.३)।

इत्थिओ तत्थ से परिणाय (१.९.१.६.)।

तह—यह तद्धितान्त निपात है। संस्कृत के 'तथा' का प्राकृत रूपान्तरण है। इसका प्रयोग उस प्रकार, वैसा, उसी प्रकार, और, तथा एवं पादपूर्ति के लिए होता है। संस्कृत 'तथा' शब्द 'तेन प्रकारेण' अर्थ में 'प्रकारवचनेथाल्'" सूत्र से थाल् प्रत्यय योग से बनता है। प्राकृत में 'थ' का 'ह' हो जाता है।"

पुढो—संस्कृत का 'पृथक्' अव्यय प्राकृत में पुढो बनता है जिसका अर्थ अलग, खंड आदि है। पाणिनि ने इसे अव्युत्पन्न (रूढ़) अव्यय मानकर स्वरादिगण के अन्तर्गत संकलित किया है। हेमचन्द्र के अनुसार इसके पिहं, पुहं, पिढं, पुढं आदि अनेक रूप बनते हैं।" पाली में 'पुत' एवं 'पुथु' दो शब्द मिलते हैं। अर्द्धमागधी में 'पुढो' रूप मिलता है।" आगमों में पृथक् के लिए पुहु भी मिलता है—पृथक्त्व-पुहुत्त (स्था० २१२) कहीं-कहीं पुहत्त भी मिलता है (पणव० ६०२)। जैन महाराष्ट्री में पिहृप्प और पिहं दो रूप मिलते हैं। अर्द्धमागधी में भी 'पिह' शब्द मिलता है—पृथक्जन—पिहृज्जण (स्था० १३२)।

पुण—यह संस्कृत का पुनर् (स्वरादिगण में पठित) अव्यय का प्राकृत रूप है जो भेद, विशेष, अवधारण, निश्चय, अधिकार, पुनः, फिर, प्रस्ताव, द्वितीयवार, पक्षांतर, समुच्चय एवं पादपूर्ति के लिए प्रयुक्त होता है। पाली में 'दुबारा' और फिर के लिए यह प्रयुक्त हुआ है—'मानो ममं न पुनरागभासि' (पच्चुसोपथ जातक० १६)।

प्राकृत में पुण, पुणु, पुणाइ, पुणाई, उण, उणाइ आदि रूप मिलते हैं। संस्कृत का पुनः महाराष्ट्री, अर्द्धमागधी, जैन महाराष्ट्री, जै० शौरसेनी, शौरसेनी, मागधी और ठक्की आदि भाषाओं में 'फिर' और 'दूसरी बार' के अर्थ में 'पुणो या पुण' के रूप में प्रयुक्त हुआ है। आचारांग के अनेक स्थलों पर इसके उदाहरण द्रष्टव्य है—सेजं पुण जाणेज्जा ।<sup>४४</sup>

संयुक्त रूप में 'पुनरपि' का पुणो वि रूप मिलता है—'संवुज्झमाणे पुणो वि' ।<sup>४५</sup>

बहि—संस्कृत का बहिः (बहिस्) प्राकृत में 'बहि' होता है। हेमचन्द्र के अनुसार इसको बाहि और बाहिर दो आदेश होते हैं ।<sup>४६</sup> अर्द्धमागधी में बहि रूप मिलता है। आचारांग में बहि का उदाहरण द्रष्टव्य हैः—

बहि चंकमिया मुहुत्तणं ।<sup>४७</sup>

□

### संदर्भ

- |   |   |
|---|---|
| १. निरुक्त-१.२                                      | २४. हेमशब्दानुशासन ८.२.१६२                      |
| २. महाभाष्य—  | २५. पाली निपात समुच्चय पृ० ५०                   |
| ३. 'अध्ययादाप्सुपः'—पाणिनि अष्टा-<br>ध्यायी, २.४.८२ | २६. आचारांग १.९.३.९१                            |
| ४. पतञ्जलि, महाभाष्य १.१.३७                         | २७. हेमशब्दानुशासन ८.२.१९८                      |
| ५. मोगलान व्याकरण २.१२०                             | २८. कुणाल जातक पृ० १२०, दीर्घनिकाय<br>३ पृ० १९६ |
| ६. हेमशब्दानुशासन-८.२.१७५-२१८                       | २९. आचारांग १.९.१.२                             |
| ७. सोणनन्द जातक-१                                   | ३०. हेमशब्दानुशासन ८.४.२८३                      |
| ८. आचारांग सूत्र-१.९.१.५                            | ३१. तत्रैव ८.४.४४४                              |
| ९. तत्रैव-१.९.१.१४                                  | ३२. आचारांग १.९.१.३                             |
| १०. तत्रैव-१.९.२.९                                  | ३३. ऋग्वेद—                                     |
| ११. तत्रैव-१.९.४.१३                                 | ३४. आचारांग १.९.१.२                             |
| १२. तत्रैव-१.९.४.१४                                 | ३५. तत्रैव १.९.१.२०                             |
| १३. पाली निपात समुच्चय पृ० ३१                       | ३६. तत्रैव १.९.१.४                              |
| १४. आचारांग १.९.१.५                                 | ३७. पाणिनि अष्टाध्यायी ५.३.१०                   |
| १५. तत्रैव १.९.३.३                                  | ३८. हेम शब्दानुशासन                             |
| १६. तत्रैव १.९.३.७                                  | ३९. पाली निपात समुच्चय, पृ० ८२                  |
| १७. तत्रैव १.९.२.५                                  | ४०. पाणिनि अष्टा०                               |
| १८. हेमचन्द्र शब्दानुशासन-८.१.९१                    | ४१. हेमशब्दानुशासन ८.१.१८७                      |
| १९. आचारांग १.९.१.१३                                | ४२. हेमशब्दानुशासन ८.१.२४, १३७, १८८             |
| २०. तत्रैव १.९.२.९                                  | ४३. आचारांग १.१.२.१                             |
| २१. तत्रैव १.९.२.५                                  | ४४. तत्रैव १.१.१.५                              |
| २२. पाणिनि अष्टा० ५.३.१५                            | ४५. तत्रैव १.९.२.६                              |
| २३. आचारांग १.९.२.२                                 | ४६. हेम० ८.२.१४०                                |
|   | ४७. आचारांग १.९.२.६                             |

## “जैन द्रव्य सिद्धांत”—परिचय और समीक्षा

□ राजबीरसिंह शेखावत

दर्शन और दार्शनिक का कार्य जगत् को समझना और उसकी व्याख्या करना है। दार्शनिक, जगत् को जिस रूप में समझता है उसी रूप में दूसरों को भी समझाता है। दूसरों को समझाने के लिए वह सिद्धांतों की स्थापना करता है जो किसी दार्शनिक पद्धति या विचार प्रणाली द्वारा संपादित होता है। जैन दार्शनिकों ने इस विचार-प्रणाली के रूप में “अनेकान्त दृष्टि” को अपनाया है।

जैन दार्शनिकों के अनुसार वस्तु में अनेक धर्म अपने प्रतिपक्षी धर्म के साथ रहते हैं,<sup>१</sup> जिन्हें “अनेकान्त दृष्टि” से ही समझा जा सकता है। यदि एकान्तिक दृष्टि को अपनाया जाये तो वस्तु में रहने वाले प्रतिपक्षी धर्मों को नहीं जाना जा सकता। दूसरे इससे “एकान्तवाद” की स्थापना होती है और “एकान्तवादी” जगत् की यथार्थ व्याख्या नहीं कर सकते। अनेकान्तवाद ही वस्तु की यथार्थ व्याख्या कर सकता है, क्योंकि एकान्तवाद में कर्म, कर्मफल, बन्धन, मोक्ष, पाप, पुण्य, इहलोक, परलोक आदि की युक्तिसंगत व्याख्या नहीं हो सकती है।<sup>१</sup>

एकान्तवाद एक ही धर्म की स्थापना कर सकता है, जबकि वस्तु के बारे में यह नहीं कहा जा सकता है कि वह सर्वथा सत् ही है अथवा सर्वथा असत् ही है, नित्य ही है या अनित्य ही है। जो वस्तु सत् है वही असत् भी है, जो नित्य है वह अनित्य भी है, जो एक है वह अनेक भी है।<sup>१</sup> और इस प्रकार की जो वस्तु या विषय है जिसमें प्रतिपक्षी धर्म रहते हैं या यों कहें की जगत् में जो कुछ भी है वह द्रव्य है।

### द्रव्य क्या है ?

गुण<sup>२</sup> तथा पर्याय<sup>३</sup> का आश्रय या आधार ‘द्रव्य’<sup>४</sup> है। गुण और पर्याय के बिना द्रव्य नहीं हो सकता तथा द्रव्य के बिना ‘गुण’ और ‘पर्याय’ नहीं हो सकते। गुण और पर्याय का अस्तित्व द्रव्य से अभिन्न है।<sup>५</sup> गुण नित्य धर्म है जो द्रव्य में वर्तमान तथा सहभावी रूप से रहते हैं। ये द्रव्य का स्वभाव भी है तथा स्वयं निर्गुण होते हैं।<sup>६</sup> पर्याय क्रमभावी तथा परिवर्तनशील होते हैं जो आते-जाते रहते हैं। इन्हीं गुण तथा पर्याय की अपेक्षा से द्रव्य नित्य भी है तथा अनित्य भी है।

द्रव्य का एक दूसरा लक्षण भी दिया जाता है जो उपर्युक्त लक्षण से तत्त्वतः भिन्न नहीं है। इसके अनुसार द्रव्य वह है जो “सत्” है और “सत्” वह है जिसमें उत्पत्ति, विनाश और स्थिरता पाई जावे।<sup>७</sup> यह उत्पत्ति, विनाश और स्थिरता भिन्न-भिन्न काल में नहीं होती, अपितु तीनों एक ही काल में पाई जाती हैं, जैसे मिट्टी के

पिण्ड से जब घट बनाया जाता है तब घट रूप पर्याय की उत्पत्ति, पिण्ड रूप पर्याय का विनाश और रूप आदि गुणों की स्थिरता रहती है। अतः उत्पत्ति आदि में काल भेद नहीं है।<sup>10</sup> इस बात को दूसरे शब्दों में इस प्रकार कहा जा सकता है कि उत्पत्ति ही विनाश है या विनाश ही उत्पत्ति है, अर्थात् उत्पत्ति और विनाश द्रव्य की कोई दो घटनाएं नहीं हैं, अपितु एक ही घटना को समझाने के लिए दो नाम दिये गये हैं। पूर्व पर्याय की अपेक्षा से विनाश कह दिया जाता है तथा वर्तमान पर्याय की अपेक्षा से उत्पत्ति कह दिया जाता है। इस प्रकार उत्पत्ति तथा विनाश पर्याय पर आश्रित हैं और स्थिरता गुण पर आश्रित हैं।<sup>11</sup> उत्पत्ति, विनाश और स्थिरता एक दूसरे के अविनाभावी हैं।<sup>12</sup>

विनाश के बिना उत्पत्ति नहीं हो सकती है और उत्पत्ति के बिना विनाश नहीं नहीं तथा स्थिर द्रव्य के बिना उत्पत्ति और विनाश दोनों सम्भव नहीं है।<sup>13</sup> इस प्रकार द्रव्य नित्यानित्यात्मक या परिणामी नित्य है।

उत्पत्ति, विनाश तथा स्थिरता गुण तथा पर्याय पर आश्रित होने के कारण द्रव्य की तात्त्विक परिभाषा—गुण तथा पर्याय का आश्रय द्रव्य है—को ही स्वीकार किया जा सकता है। किन्तु यहां प्रश्न होता है कि क्या गुण और पर्याय ही द्रव्य है या इन दोनों का आश्रय द्रव्य है? यदि गुण तथा पर्याय ही द्रव्य है, तब इन से भिन्न द्रव्य कहने की आवश्यकता क्यों पड़ी? यदि गुण तथा पर्याय से भिन्न उनका आश्रय या आधार द्रव्य है तब उसका स्वरूप क्या है? अर्थात् गुण तथा पर्याय से भिन्न भी कोई द्रव्य की वस्तु सत्ता है? इस प्रश्न के जवाब में कहा है कि गुण तथा पर्याय से भिन्न कोई स्वतन्त्र वस्तु नहीं है।<sup>14</sup> और गुणों की वर्तमान कालीन अवस्था ही पर्याय है।<sup>15</sup> इसका अर्थ यह है कि गुणों से स्वतन्त्र कोई द्रव्य या पर्याय नाम की वस्तु नहीं है। अतः निष्कर्षतः द्रव्य की परिभाषा की जा सकती है कि द्रव्य “नित्य गुणों” के समूह की अनित्य अवस्था है।

**द्रव्य एक है या अनेक ?**

द्रव्य की एकता और अनेकता के प्रश्न के जवाब में जैन दार्शनिकों का मत है कि द्रव्य सत्ता की अपेक्षा एक है, क्योंकि सत्ता सब द्रव्यों में व्याप्त है<sup>16</sup> और अपने विशिष्ट गुणों के कारण द्रव्य अनेक हैं, क्योंकि सब द्रव्यों के गुण समान नहीं हैं। इन अनेक द्रव्यों को समझने के लिए छः भागों—जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल—में विभाजित किया गया है।

**जीव द्रव्य**

चेतन द्रव्य को “जीव” कहते हैं।<sup>17</sup> चैतन्य जीव का असाधारण गुण है जिसमें बाह्य तथा आभ्यन्तर कारणों से दो रूप—ज्ञान तथा दर्शन में परिणमन होता है। जिस समय चैतन्य “स्व” से भिन्न किसी वस्तु या विषय को जानता है तब “ज्ञान” कहलाता है और जब चैतन्य मात्र चैतन्याकार रहता है तब “दर्शन” कहलाता है। ज्ञान, दर्शन, सुख तथा शक्ति जीव के नित्य धर्म हैं, अर्थात् इन गुणों के समूह के अति-

रिक्त कोई जीव नहीं है। यहाँ प्रश्न होता है कि इन गुणों के समूह में रहने का कारण क्या है? दूसरा ज्ञान तथा सुख को जीव का गुण कैसे स्वीकार किया जा सकता है, क्योंकि ज्ञान तथा सुख परिवर्तनशील हैं और कुछ अवस्थाएं ऐसी भी आती हैं जिस समय ज्ञान तथा सुख का अभाव होता है। दूसरा मनुष्य आदि को जीव की पर्याय मानी गई है। तब प्रश्न होता है कि आत्मा या जीव मुक्त कैसे हो सकता है? क्योंकि जीव अपनी पर्यायों से रहित नहीं हो सकता है। और मनुष्य रूप पर्याय आदि को जीव की बद्ध अवस्था मानी है। एक अन्य प्रश्न यह है कि अचेतन चेतन की पर्याय कैसे हो सकता है?

जैन दार्शनिकों के अनुसार जीव अपने अस्तित्व के लिए न तो किसी दूसरे द्रव्य पर आश्रित है और न इस पर आश्रित कोई दूसरा द्रव्य है। सब द्रव्यों में जीव ही श्रेष्ठ है क्योंकि केवल जीव को ही हित-अहित, हेय-उपादेय, सुख-दुःख आदि का ज्ञान होता है।<sup>14</sup>

द्रव्य संग्रह में जीव के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि वह कर्ता और भोक्ता है।<sup>15</sup> निश्चय नय से जीव स्वयं का कर्ता और भोक्ता है तथा व्यवहार नय से अनेक प्रकार के पुद्गल कर्मों का कर्ता और भोक्ता है।<sup>16</sup> यहाँ प्रश्न होता है कि "स्वयं" के भोग तथा "पर" के भोग का स्वरूप क्या है? "स्वयं" के भोग तथा "पर" के भोग में कोई भेद है या नहीं? क्या इन दोनों के भोग में कोई भोग उत्कृष्ट है? यदि है तब वह उसको क्यों भोगता है जो उत्कृष्ट नहीं है? "स्वयं" को तथा "पर" को जीव एक ही काल में भोगता है या भिन्न-भिन्न काल में।

जैन दार्शनिकों ने जीव की दो अवस्थाएं—मुक्त तथा बद्ध-मानी है। बद्ध जीव अनादिकाल से कर्मों से बद्ध है, जिसके कारण वह जन्म-मरण के चक्कर में पड़ा रहता है, किन्तु वह मुक्त हो सकता है। यहाँ प्रश्न है कि जीव के बद्ध होने का कारण क्या है? बद्ध अवस्था से पहले जीव मुक्त था या बद्ध? यदि यह मुक्त था तब वह बद्ध कैसे हो गया? और यदि बद्ध था और बद्ध ही है तब यह कैसे कहा जा सकता है कि वह मुक्त हो सकता है और फिर बन्धन में नहीं आ सकता? एक अन्य प्रश्न यह है कि जीव स्वयं संसार में आकर बद्ध होता है, या इस संसार के विषय जीव जगत् में जाकर जीव को बांध लेते हैं?

बन्धन का कारण क्या है? इसके जवाब में आचार्य कुन्दकुन्द का कहना है कि योग और कषाय ही बन्धन का कारण है।<sup>17</sup> यहाँ प्रश्न होता है कि कषाय जीव का धर्म है या किसी अन्य का? यदि कषाय जीव का धर्म है तब तो जीव मुक्त कैसे हो सकता है, क्योंकि जीव अपने धर्मों को कैसे छोड़ सकता है। यदि कषाय किसी अन्य का धर्म है तब जीव अन्य के धर्म से बन्धन में कैसे आ जाता है? कषाय और जीव का क्या सम्बन्ध है? इस संबंध में आचार्य कुन्दकुन्द का मत है कि राग, द्वेष, मोह आदि निश्चय नय से पुद्गल के धर्म हैं तथा व्यवहार नय से जीव के हैं।<sup>18</sup> यहाँ प्रश्न है कि जो निश्चय नय से जीव के हैं ही नहीं वे जीव के कैसे हो सकते हैं? और फिर यदि व्यवहार नय से जीव के हैं तब निश्चय नय से जीव के क्यों नहीं? दूसरा

व्यवहार नय से जीव को जड़ स्वीकार करना होगा, क्योंकि व्यवहार नय से पुद्गल के धर्मों को जीव के स्वीकार किया है। पुनः प्रश्न होता है कि पुद्गल का जीव के साथ क्या सम्बन्ध है? आचार्य कुन्दकुन्द के अनुसार जीव तथा पुद्गल का संयोग संबंध है जैसे दूध और पानी का संबंध है।<sup>18</sup> किन्तु इस दृष्टान्त द्वारा जीव तथा पुद्गल का संबंध सिद्ध नहीं है, क्योंकि दूध तथा पानी समान धर्मों हैं, जबकि, जीव और पुद्गल दो विपरीत स्वभाव वाले द्रव्य हैं, उनमें ऐसा सम्बन्ध कैसे सम्भव है? दूसरा यदि संयोग सम्बन्ध है तो इस संयोग का कारण क्या है? यह संयोग स्वतः होता है या किसी अन्य के निमित्त? यहां पुद्गल तथा जीव के सम्बन्ध को समझने के लिए पुद्गल के स्वरूप को जानना अपेक्षित है।

## पुद्गल द्रव्य

जिस द्रव्य में रूप, रस, गंध और स्पर्श ये चारों गुण पाये जावे वह "पुद्गल" द्रव्य है।<sup>19</sup> रूप, रस, गंध और स्पर्श पुद्गल के नित्य सहभावी धर्म हैं तथा शब्द, बन्ध, स्थूल, छाया आदि अनित्य क्रमभावी धर्म हैं।<sup>20</sup> पुद्गल रूपी धर्म<sup>21</sup> से युक्त होने के कारण मूर्त<sup>22</sup> है और अनेक प्रदेश में रहने के कारण अस्तिकाय है। वस्तु जगत् के सभी पदार्थ पुद्गल द्वारा निमित्त हैं। आचार्य कुन्दकुन्द के अनुसार पांच इन्द्रियां तथा उनके भोग विषय, शरीर, मन, कर्म, सभी मूर्त द्रव्य पुद्गल हैं।

पुद्गल के दो प्रकार—परमाणु और स्कन्ध है। जिसमें एक रस, एक रूप, एक गंध और दो स्पर्श हो वह परमाणु है।<sup>23</sup> आचार्य कुन्दकुन्द ने परमाणु का स्वरूप स्पष्ट करते हुए कहा है कि जो स्वयं ही आदि, मध्य और अन्त हो तथा इन्द्रियों के द्वारा ग्रहण नहीं किया जा सकता, ऐम अविभाज्य पुद्गल द्रव्य 'परमाणु' है।<sup>24</sup> परमाणु नित्य, शब्द रहित, एक और अविभाज्य है जो मूर्त स्कन्धों से उत्पन्न भी होता है और उनका कारण भी है? यहां प्रश्न होता है कि जो नित्य है वह उत्पन्न कैसे हो सकता है? और जो जिसका कारण है वह उससे उत्पन्न कैसे हो सकता है? अर्थात् कारण कार्य से उत्पन्न कैसे हो सकता है? दूसरा द्रव्य की उत्पत्ति कैसे स्वीकार की जा सकती है?

प्रत्येक परमाणु चार गुण वाला है और इन परमाणुओं के विभिन्न प्रकार के संयोग से नानाविध पदार्थ बनते हैं।<sup>25</sup> पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु ये चारों तत्त्व भिन्न प्रकार के परमाणुओं से निमित्त नहीं, अपितु एक ही प्रकार के परमाणुओं से उत्पन्न हैं। इन पदार्थों के निर्माण में परमाणुओं का बन्ध कुछ विशिष्ट धर्मों से होता है। यह धर्म है—स्निग्धता तथा रूक्षता।<sup>26</sup> इन्हीं स्निग्धता और रूक्षता से परमाणुओं का संघात बनता है, अर्थात् दो या दो से अधिक परमाणुओं के समूह को "स्कन्ध" कहते हैं। इन स्कन्धों के परस्पर टकराने से शब्द की उत्पत्ति होती है।<sup>27</sup> आचार्य कुन्दकुन्द के अनुसार समस्त परमाणुओं से मिलकर बना हुआ पिण्ड स्कन्ध है।<sup>28</sup> किन्तु ऐसी स्थिति में सम्पूर्ण विश्व एक ही स्कन्ध सिद्ध होता है, और एक ही स्कन्ध होने पर परस्पर टकराव कैसे संभव है? क्योंकि टकराव के लिए कम से कम



दो स्कन्धों का होना आवश्यक है ।

परमाणु तथा स्कन्ध को लेकर प्रश्न होता है कि क्या परमाणु तथा स्कन्ध पुद्गल की पर्याय हैं ? यदि पर्याय है तब पुद्गल क्या है ? और पुद्गल है तब ये दोनों—परमाणु तथा स्कन्ध-पुद्गल है या कोई एक ? स्कन्ध को शुद्ध पुद्गल नहीं माना जा सकता क्योंकि वह परमाणुओं से उत्पन्न है । अतः यही सिद्ध होता है कि परमाणु ही शुद्ध पुद्गल है । यहां प्रश्न होता है कि फिर पुद्गल मूर्त और अस्तिकाय कैसे हो सकता है, क्योंकि परमाणु जीवों द्वारा इन्द्रियों से ग्रहण नहीं किये जा सकते और न ही परमाणु बहुप्रदेशी होते हैं,<sup>१५</sup> तथा जो एक से अधिक प्रदेशों में नहीं रहता वह अस्तिकाय नहीं हो सकता ।

### धर्म अधर्म द्रव्य

पुद्गल द्रव्य या तो गतिशील है या स्थिर है ।<sup>१६</sup> एक प्रदेश से दूसरे प्रदेश में गमन करने को “गति” कहते हैं, और जो द्रव्य इस “गति” में सहायक है उसे “धर्म” द्रव्य कहते हैं ।<sup>१७</sup> धर्म द्रव्य उसी प्रकार क्रिया या गति में सहायक है जिस प्रकार मछलियों के गमन या गति में जल सहायक है ।<sup>१८</sup> धर्म न तो स्वयं गति करता है और न ही, जो द्रव्य स्वयं नहीं चलते हैं, उन्हें बलपूर्वक चलाता है अपितु जो गतिशील है उनकी गति का उदासीन कारण है ।<sup>१९</sup> धर्म द्रव्य रूप, रस, गंध और स्पर्श से रहित होने के कारण अमूर्त है तथा समस्त लोकाकाश में व्याप्त है और अखण्ड है ।<sup>२०</sup> यहां प्रश्न है कि जो स्वयं गतिशील नहीं है, वह गति में सहायक कैसे हो सकता है ? दूसरा गति का प्रेरक कारण क्या है ?

पुनः जो द्रव्य चलते हैं वे ही स्थिर होते हैं<sup>२१</sup> अर्थात् जिनमें गमन सम्भव है स्थिरता भी उन्हीं में सम्भव है । किन्तु धर्म गमन नहीं करता है और गमन नहीं करने के कारण उसे स्थिर भी नहीं माना जा सकता है । यहां प्रश्न है कि जो न गति रूप में है और न ही स्थिर रूप में, वो किस रूप में है ? अर्थात् धर्म न गति रूप में है और न स्थिर रूप में तब उसकी सत्ता को कैसे स्वीकार किया जा सकता है ।

जिस प्रकार धर्म गति में सहायक कारण है उसी प्रकार जो “स्थिरता” में सहायक कारण है वह “अधर्म” द्रव्य है ।<sup>२२</sup> अर्थात् जो स्थिरता सहित पुद्गल और जीव हैं उनकी स्थिरता में सहायक या उदासीन कारण है वही अधर्म है ।<sup>२३</sup> अधर्म द्रव्य सम्पूर्ण लोकाकाश में व्याप्त है, अखण्ड है और रूप, रस आदि गुणों से रहित होने के कारण अमूर्तिक है । गति के प्रेरक कारण की तरह यहां प्रश्न है कि स्थिरता का प्रेरक कारण क्या है ? दूसरा धर्म द्रव्य की तरह अधर्म भी गतिशील नहीं होने के कारण स्थिर नहीं है । और जो न गतिशील है न स्थिर उसकी सत्ता कैसे स्वीकार की जाये ? एक अन्य प्रश्न है कि धर्म तथा अधर्म का आधार क्या है ? अर्थात् ये कहां रहते हैं ? इसके जबाब में कहा गया है कि लोकाकाश ही इनका आधार है ।

### आकाश द्रव्य

जो द्रव्य जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म और काल को अवकाश अर्थात् स्थान देता

है वह आकाश है।<sup>४०</sup> आकाश एक सर्वव्यापक, अखण्ड है तथा रूप, रस आदि गुणों से रहित होने के कारण अमूर्त है। आकाश सब का आधार है पर स्वयं आकाश का कोई आधार नहीं है। आकाश के कारण ही विस्तार संभव है किन्तु जिसका स्वाभाविक गुण विस्तार नहीं उसे आकाश विस्तृत नहीं कर सकता है। आचार्य कुन्दकुन्द का मत है कि छहों द्रव्य परस्पर एक दूसरे में प्रवेश कर रहे हैं, एक दूसरे को अवकाश दे रहे हैं।<sup>४१</sup> यहाँ प्रश्न होता है कि जब छहों द्रव्य एक दूसरे को स्थान दे रहे हैं तब आकाश को स्वतन्त्र द्रव्य क्यों माना ? अर्थात् ऐसी स्थिति में आकाश को मानने की क्या आवश्यकता है ?

आकाश के दो भेद—लोकाकाश और अलोकाकाश है <sup>४२</sup> धर्म, अधर्म, काल, पुद्गल और जीव ये द्रव्य जिस आकाश में रहते हैं वह लोकाकाश है।<sup>४३</sup> लोकाकाश से परे जो आकाश है वह अलोकाकाश है, जिसमें कोई भी, द्रव्य नहीं है अर्थात् वह पूर्णतः रिक्त है। यहाँ प्रश्न है कि क्या पूर्णतः रिक्तता सम्भव है ? दूसरा अलोकाकाश को आकाश कैसे माना जा सकता है, क्योंकि आकाश की परिभाषा की गई है कि जो जीव आदि द्रव्यों को अवकाश देता है वह आकाश है<sup>४४</sup> और अलोकाकाश इनको स्थान नहीं देता है। दूसरी ओर अलोकाकाश को पूर्णतः रिक्त मानना भी युक्तिसंगत नहीं है, क्योंकि अलोकाकाश ज्ञेय है या नहीं ? यदि वह ज्ञान का विषय नहीं है तब तो उसकी सत्ता ही नहीं है, और यदि ज्ञान का विषय है, तब यह नहीं कहा जा सकता कि वह पूर्णतः रिक्त है, क्योंकि जैन दार्शनिकों के अनुसार समस्त द्रव्य ज्ञान के अन्तर्गत हैं और ज्ञान जीव का गुण है तथा ज्ञान एवं जीव का क्षेत्र एक ही है। इससे यह सिद्ध होता है कि अलोकाकाश में कम से कम ज्ञान तथा जीव तो हैं। तब यह कहना की अलोकाकाश में कुछ भी नहीं है, युक्तियुक्त नहीं।

### काल द्रव्य

जीव तथा पुद्गल बाह्य निमित्त की सहायता से क्रियावान होता है जिसमें जीव पुद्गल का निमित्त पाकर क्रियावान होता है और पुद्गल काल का निमित्त पाकर। यहाँ प्रश्न है कि काल का स्वरूप क्या है ? इसके जबाब में जैन दार्शनिकों का मत है कि, भिन्न-भिन्न क्षणों में वर्तमान रहना, परिणमन, पहले होना और बाद में होना ये जिस निमित्त से होते हैं उसको काल कहते हैं।<sup>४५</sup> काल भी परिणमन का सहकारी निमित्त कारण है प्रेरक नहीं।<sup>४६</sup> यहाँ प्रश्न है कि जब धर्म द्रव्य गति का सहायक है तब काल को क्यों स्वीकार किया ?

पुनः जैन दार्शनिकों के अनुसार काल रूप, रस रहित होने के कारण अमूर्तिक है तथा एक प्रदेशी होने के कारण अनस्तिकाय है। लोकाकाश के प्रत्येक प्रदेश पर एक-एक काल द्रव्य है।<sup>४७</sup> इसका अभिप्राय यह है कि काल द्रव्य अनेक है अर्थात् प्रत्येक प्रदेश का अपना-अपना काल है। कोई ऐसा काल नहीं है जो सर्वव्यापक हो। जैन दार्शनिकों ने काल के दो भेद किये हैं एक निश्चय काल दूसरा व्यवहार काल<sup>४८</sup> सैकिण्ड, मिनिट, घंटा, दिन आदि व्यवहार काल है जो अनित्य तथा द्रव्याश्रित है। जो नित्य तथा किसी पर अश्रित नहीं है वह निश्चय या परमार्थ काल है।

## समीक्षा

इस प्रकार जैन दार्शनिकों के अनुसार जगत् में जो कुछ भी है वह द्रव्य है या उसके नित्य या अनित्य धर्म। उन्हीं द्रव्यों से जगत् के समस्त तत्त्वों की व्याख्या की जा सकती है। दूसरा इस सिद्धान्त से जगत् का ज्ञान होता है जिससे ज्ञान में एवं जगत् में एक व्यवस्था देखी जा सकती है तथा व्यक्ति को स्वयं-आत्मन्-का गहराई से ज्ञान होता है, जिससे 'मैं और "यह", "स्व" तथा "पर" के भेद को समझा जाता है जो मोक्ष में सहायक है।

इस सिद्धान्त की विशिष्टता यह है कि यह अनेकांत दृष्टि को लिये हुए है जिससे यह एकांतवादों में होने वाले दोषों से मुक्त है किन्तु ऐसा नहीं लगता कि यह सिद्धान्त पूर्णतः निर्दोष है, क्योंकि इसमें भी कुछ असंगतियां हैं जिनकी ऊपर चर्चा की जा चुकी है। यहां एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न है कि मोक्ष द्रव्य है या नहीं? यदि मोक्ष द्रव्य है तब तो द्रव्य सात होते हैं जो जैनों को स्वीकार नहीं है। यदि मोक्ष द्रव्य नहीं है तब वह या तो गुण है या पर्याय। इसके अतिरिक्त किसी की सत्ता नहीं है। यदि मोक्ष को जीव का गुण स्वीकार किया जाये तब तो जीव नित्य मुक्त होना चाहिए था क्योंकि गुण नित्य है और यदि जीव की पर्याय मानी जाये तब यह कैसे कहा जा सकता है कि जीव मुक्त होने पर बद्ध नहीं हो सकता, क्योंकि पर्याय अनित्य है।

अन्त में इस सिद्धान्त से पांच निष्कर्षों पर पहुंचा जा सकता है जो जगत् के बारे में महत्त्वपूर्ण पक्षों को प्रकाश में लाते हैं। ये निष्कर्ष निम्नलिखित रूप से हैं:—

१. जगत् में जो कुछ है "द्रव्य" है। "द्रव्य" गुण तथा पर्याय से स्वतन्त्र वस्तु नहीं है और पर्याय गुणों की अवस्थाएं हैं, गुणों से भिन्न कोई वस्तु सत्ताएं नहीं है। अतः जगत् का परम तत्त्व जिससे जगत् निर्मित है मात्र गुण ही हैं जो अनेक हैं।
२. सम्पूर्ण दृश्य जगत् और उसके विषय पर्याय रूप में है अर्थात् जो भी हम देख रहे हैं, जान रहे हैं वे गुणों की अवस्थाएं मात्र हैं, जो परिवर्तनशील, क्षणिक, और अनित्य है।
३. परमाणु पांच कणों के समूह हैं। क्योंकि परमाणु में पांच गुण—एक रस, एक रूप, एक गंध और दो स्पर्श होते हैं और ये गुण कण रूप में ही हो सकते हैं।
४. मन, रूप रस, गंध, तथा स्पर्श गुणों का समूह मात्र हैं, क्योंकि मन पुद्गल है और पुद्गल वह है जिसमें रूप, रस, गंध और स्पर्श है।
५. काल द्रव्य अनेक है, जितने लोकाकाश के प्रदेश हैं उतने ही काल द्रव्य हैं प्रत्येक परमाणु का अपना अलग एक काल है। कोई एक सर्वव्यापी काल नहीं है। □

### संदर्भ सूची

१. आप्तमीमांसा—तत्त्वदीपिका, प्रस्तावना, पृ० ८९
२. आप्तमीमांसा—तत्त्वदीपिका, पृ० १०३, १०२
३. समयसार—आत्मरूपाति, गा० १०/२४७। आप्तमीमांसा—तत्त्वदीपिका, प्रस्तावना, पृ० ८९

४. सहभावी नित्य धर्मों को "गुण" कहते हैं ।
५. क्रमभावी अनित्य धर्मों को "पर्याय" कहते हैं ।
६. तत्त्वार्थ सूत्र, सूत्र ५, ३८ ।  
पंचास्तिकाय, गाथा, १० ।  
नियमसार, गाथा, ९ ।
७. पंचास्तिकाय, गाथा, १२, १३
८. तत्त्वार्थ सूत्र, सूत्र, ५.४१
९. पंचास्तिकाय, गाथा, १० ।
१०. प्रवचनसार, गा०, २.१० ।
११. आचार्य कुन्दकुन्द : द्रव्य विचार, भूमिका पृ० ५ ।
१२. प्रवचनसार, गा० २,८, कुंदकुंद-  
प्राभृत संग्रह, पृ० १८, कुन्दकुन्द-  
भारती, पृ० १३९ ।
१३. प्रवचनसार गा० २,८ ।
१४. आचार्य कुंदकुंद : द्रव्य विचार'  
भूमिका प्र० ३६ ।
१५. जैन दर्शन, पृ० १०१ ।
१६. पंचास्तिकाय, गा० ८ ।
१७. "चेतना लक्षणों जीव", षड्दर्शन  
संग्रह, सूत्र ४७ पर गुण रत्न की  
टीका । "उपयोगी लक्षणम्" तत्त्वार्थ  
सूत्र, २.८ । पंचास्तिकाय, गा० ९७ ।
१८. पंचास्तिकाय, गा० १२५ ।
१९. द्रव्य संग्रह, गा० ८ ।
२०. समयसार, ३.१५.८३, ३.१६.८४ ।
२१. वही ३.४१-१०९, ३-४२-११० ।
२२. वही, गा० ३-४३-१११, ३-४४-११२,  
२-१८-५६ ।
२३. वही, गा० २-१९-५७ ।
२४. तत्त्वार्थ सूत्र, ५.२३ ।  
प्रवचन सार; २.४० ।  
स्वामिकार्तिकेयानुपेक्षा, गा० २०७ ।
२५. तत्त्वार्थ, सूत्र ५.२४ ।  
द्रव्य संग्रह, गा० १६ ।
२६. तत्त्वार्थ सूत्र, सू० ५.५ ।
२७. पंचास्तिकाय, गा० ९७ ।
२८. पंचास्तिकाय, गा० ८१ ।
२०. नियमसार, गा० २६ ।
३०. पंचास्तिकाय, गा० ७७ । नियमसार,  
गा० २५ । तत्त्वार्थसूत्र, सूत्र ५.२७ ।
३१. पंचास्तिकाय, गाथा ११० ।
३२. तत्त्वार्थसूत्र, सूत्र ५.३३ ।
३३. पंचास्तिकाय, गा० ७९ ।
३४. वही, गा० ७५ ।
३५. तत्त्वार्थसूत्र, सूत्र ५.११ ।  
सर्वार्थसिद्धि हिन्दी व्याख्या, पृ० २१० ।
३६. पंचास्तिकाय, गा० ८९ ।
३७. प्रवचनसार, गा० २,४१, २.४२ ।  
द्रव्य संग्रह, गा० १७ ।
३८. पंचास्तिकाय, गा० ८५ ।
३९. वही, गा० ८८ । ४०. वही, गा० ८३ ।
४१. वही, गा० ८९ । ४२. वही, गा० ८६ ।
४३. द्रव्य संग्रह, गा० १८ ।
४४. द्रव्य संग्रह, गा० १९ ।  
तत्त्वार्थसूत्र, सूत्र ५.१८ ।  
पंचास्तिकाय, गा० ९० ।
४५. पंचास्तिकाय, गा० ७ ।
४६. द्रव्य संग्रह, गा० १९ ।
४७. वही, गा० २० ।
४८. वही, गा० १९ ।  
तत्त्वार्थ सूत्र, सू० ५.१८ ।
४९. उत्तराध्ययन सूत्र २८.१० ।  
तत्त्वार्थसूत्र, सूत्र ५.२२ ।
५०. दिक्-काल विविधवैचारिक आयाम,  
पृ० ४० ।
५१. स्वामिकार्तिकेयानुपेक्षा, सूत्र २१६ ।
५२. द्रव्य संग्रह, गा० २१ ।



## जैन वाङ्मय में उपलब्ध लब्धियों के प्रकार

□ मुनि विमलकुमार

सामर्थ्य विशेष को लब्धि कहते हैं। वह अनेक प्रकार की होती है। आवश्यक-निर्युक्ति, आवश्यकचूर्णि, आवश्यक हारिभद्रीयावृत्ति, आवश्यक उपोद्घात तथा प्रवचनसारोद्धार में लब्धियों का वर्णन उपलब्ध होता है। उसी के आधार पर प्रस्तुत निबंध में सोलह लब्धियों का वर्णन किया गया है। मतान्तर से वहाँ बीस लब्धियों की भी चर्चा की गई है। सोलह लब्धियाँ इस प्रकार हैं—

आमोसहि विप्पोसहि, खेलोसही जल्लभोसहि चेष ।

संभिनसोय उज्जुमइ, सव्वोसहि चेष बोद्धव्वो ॥१॥

चारण आसीविसा केवली य, मननाणिणो य पुव्वधरा ।

अरिहंत चक्कवट्ठी, बलदेवा वामुदेवा य ॥२॥<sup>२</sup>

(१) आमषौषधि लब्धि (२) विट् औषधि लब्धि (३) खेलौषधि लब्धि (४) जल्लौषधि लब्धि (५) संभिनस्योत लब्धि (६) ऋजुमति लब्धि (७) सवौषधि लब्धि (८) चारण लब्धि (९) आशीविष लब्धि (१०) केवली लब्धि (११) मनःपर्यवज्ञानी लब्धि (१२) पूर्वंधर लब्धि (१३) अरिहंत लब्धि (१४) चक्रवर्ती लब्धि (१५) बलदेव लब्धि (१६) वामुदेव लब्धि ।

आचार्य मलयगिरि ने आवश्यक उपोद्घात में इन सोलह लब्धियों के अतिरिक्त निम्नलिखित ग्यारह लब्धियों का भी नामोल्लेख किया है<sup>३</sup>—

(१) क्षीराश्रव लब्धि (२) मध्वाश्रव लब्धि (३) सर्पिराश्रव लब्धि (४) कोष्ठबुद्धि लब्धि (५) बीजबुद्धि लब्धि (६) पदानुसारी लब्धि (७) अक्षीण-महानस लब्धि (८) गणधरत्व लब्धि (९) पुलाकत्व लब्धि (१०) तेजःसमुद्घात लब्धि (११) आहारक शरीरकरण लब्धि ।

आवश्यक निर्युक्ति, आवश्यकचूर्णि, आवश्यक हारिभद्रीयावृत्ति तथा आवश्यक उपोद्घात में मतान्तर से बीस लब्धियों की चर्चा की गई है—

आमोसही य खेले जल्ले विप्पे य होइ सव्वे य ।

कोट्ठे य बीयबुद्धी पयाणुसारी य संभिन्ने ॥१॥

उज्जुमइ विउल खीरे महु अक्खीणे विउव्वि चारणे य ।

विज्जाहर अरहंता चक्की बलवामु बीसइमा ॥२॥<sup>४</sup>

अर्थात्—(१) आमषौषधि लब्धि (२) श्लेष्मौषधि लब्धि (३) जल्लौषधि लब्धि (४) विट् प्रश्रवणीषधि लब्धि (५) सवौषधि लब्धि (६) कोष्ठबुद्धि लब्धि

(७) बीजबुद्धि लब्धि (८) पदानुसारी लब्धि (९) संभिन्नश्रोत लब्धि (१०) ऋजुमति लब्धि (११) विपुलमति लब्धि (१२) क्षीरमध्वाश्रव लब्धि (१३) अक्षीणमहानस लब्धि (१४) वैक्रिय लब्धि (१५) चारण लब्धि (१६) विद्याधर लब्धि (१७) अर्हत्त्व लब्धि (१८) चक्रवर्तित्व लब्धि (१९) बलदेवत्व लब्धि और (२०) वासुदेवत्व लब्धि ।

प्रवचनसारोद्धार में आचार्य नेमिचन्द्र ने अट्ठावीस लब्धियों का उल्लेख किया है । वे ये हैं—

आमोसहि विष्पोसहि खेलोसहि जल्लओसही चेव ।  
 सव्वोसहि संभिन्ने ओहो रिउ विउलमइलद्धो ॥१॥  
 चारण आसीविस केवलि य गणहारिणो य पुव्वधरा ।  
 अरहंत चक्कवट्ठी बलदेवा य ॥२॥  
 खोर महुसप्पिआसव कोट्टयबुद्धो पयाणुसारी य ।  
 तह बीयबुद्धि तेयग आहारग सीयलेसा य ॥३॥  
 वेउव्वियदेहलद्धो अक्खीणमहाणसी पुलाया य ।  
 परिणामतववसेण एमाइ हंति लद्धोओ ॥४॥'

अर्थात्—(१) आमर्षोषधि लब्धि (२) विप्रुडोषधि लब्धि (३) खेलौषधि लब्धि (४) जल्लौषधि लब्धि (५) सर्वौषधि लब्धि (६) संभिन्नश्रोतो लब्धि (७) चारण लब्धि (८) ऋजुमति लब्धि (९) विपुलमति लब्धि (१०) चारण लब्धि (११) आशीविष लब्धि (१२) केवलि लब्धि (१३) गणधर लब्धि (१४) पूर्वधर लब्धि (१५) अर्हत्त्व लब्धि (१६) चक्रवर्ति लब्धि (१७) बलदेव लब्धि (१८) वासुदेव लब्धि (१९) क्षीर-मधुसंपिराश्रव लब्धि (२०) कोष्ठक लब्धि (२१) पदानुसारी लब्धि (२२) बीजबुद्धि लब्धि (२३) तेजोलेष्या लब्धि (२४) आहारक लब्धि (२५) शीतलेष्या लब्धि (२६) वैकुण्ठिकदेह लब्धि (२९) अक्षीणमहानस लब्धि (२८) पुलाक लब्धि ।

उपरोक्त लब्धियों में कई लब्धियों का नामोल्लेख एक समान है किन्तु कुछ नवीन भी हैं । इनका आनुक्रमिक विवरण इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है—

## १. आमर्षोषधिलब्धि

आमर्ष का अर्थ है स्पर्श । आमर्ष ही औषधि है जिसकी वह आमर्षोषधि लब्धि है । इस लब्धि को प्राप्त करने वाला व्यक्ति हाथ आदि के स्पर्शमात्र से रोग को दूर करने में समर्थ होता है । यह लब्धि किसी व्यक्ति के शरीर के एक भाग में उत्पन्न होती है और किसी के संपूर्ण शरीर में उत्पन्न होती है । इस लब्धि को प्राप्त करने वाला व्यक्ति जब रोग को दूर करने के अग्रिमप्राय से अपने या दूसरे के शरीर का स्पर्श करता है तब रोग दूर हो जाता है । इस लब्धि का अधिकारी साधु ही होता है ।'

## २. विट् औषधि

मूत्र और पुरीष को विट् कहते हैं । विट् ही औषधि है । कई विट् से विठ्ठा

और प्रु से प्रश्रवण को ग्रहण करते हैं ।<sup>१०</sup> यह भी रोग दूर करती है ।

### ३. खेलौषधि

खेल का अर्थ है श्लेष्म । श्लेष्म ही औषधि है जिसकी वह खेलौषधि है ।<sup>६</sup>

### ४. जल्लौषधि

जल्ल का अर्थ है मूल । जल्ल ही औषधि है जिसकी वह जल्लौषधि है । इसके अन्तर्गत मुख, कान, नाक, नयन, जीभ आदि का मूल तथा शरीर में उत्पन्न स्वेद आदि का ग्रहण किया गया है ।

विट् औषधि, खेलौषधि और जल्लौषधि लब्धि को प्राप्त करने वाले व्यक्ति के विट्, खेल और जल्ल सुगन्धित हो जाते हैं । रोगापनयन की दृष्टि से इनका स्पर्श करने से रोग दूर हो जाते हैं । ये लब्धियां तपस्वियों को ही प्राप्त होती हैं ।<sup>१</sup>

### ५. संभिन्नश्रोत लब्धि

इसके चार अर्थ हैं—(१) जो शरीर के सभी भागों से सुनता है वह संभिन्न-श्रोता है । (२) जो एक इन्द्रिय के द्वारा अन्य इन्द्रियों के विषयों को जान लेता है वह संभिन्नश्रोता है । (३) जिसकी इन्द्रियां परस्पर में एकरूप हो गई हैं वह संभिन्न-श्रोता है अर्थात् श्रोत्रेन्द्रिय, चक्षु इन्द्रिय का कार्य करने लग जाती है और चक्षु-इन्द्रिय, श्रोत्रेन्द्रिय का । इसी प्रकार अन्य इंद्रियां भी कार्य करने लग जाती है । (४) जो बारह योजन में विस्तृत चक्रवर्ती के सेना के एक साथ बजे हुए शंख, काहल आभेरी, भाणक, ढक्का आदि के शब्दों को पृथक्-पृथक् जान लेता है वह संभिन्नश्रोता है ।<sup>१०</sup>

### ६-७. ऋजुमति लब्धि और विपुलमति लब्धि

साधारण रूप से मनोगत भावों को ग्रहण करने वाली सामर्थ्यरूपमति को ऋजु-मति लब्धि कहते हैं । विपुलमति लब्धि मन के भावों को विशेषरूप से ग्रहण करती है । ऋजुमति जिन द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावों को जानता है विपुलमति उन्हें विशुद्धतर रूप से जानता है । ऋजुमति और विपुलमति दोनों मनःपर्यव ज्ञान के प्रकार हैं । आवश्यक निर्युक्ति, आवश्यक चूर्ण आदि में जो मनःपर्यवज्ञानी रूप लब्धि का उल्लेख है वह विपुलमति रूप मनःपर्यवज्ञान से ही संबंधित है ।<sup>११</sup>

### ८. सर्वौषधि लब्धि

इसके भी चार अर्थ हैं—(१) जिसे आमषौषधि, विट् औषधि, खेलौषधि और जल्लौषधि आदि चारों लब्धियां प्राप्त हो गई हैं उसे सर्वौषधि कहा जाता है । (२) जो संपूर्ण शरीर से या शरीर के विशेष अवयव में खेलौषधि आदि द्वारा औषधि के सामर्थ्य से युक्त है वह सर्वौषधि है । (३) जो सब रोगों का निग्रह करने में समर्थ है वह सर्वौषधि है । (४) जिसके विट्, मूत्र, केश, नख आदि अवयव रोग को दूर करने में समर्थ है वह सर्वौषधि है ।<sup>१२</sup>

## ६. चारण लब्धि

चारण का अर्थ है गमन । जिस लब्धि से विशेष गमनागमन होता है वह चारण लब्धि है । वह दो प्रकार की है—जंघाचारण और विद्याचारण । चारित्र और तप के विशेष प्रभाव से जो गमनागमनरूप विशेष लब्धि प्राप्त होती है वह जंघाचारण लब्धि है और विद्या-सिद्धि के द्वारा जो विशेष गमनागमनरूप लब्धि उपलब्ध होती है वह विद्याचारण लब्धि है । जंघाचारणलब्धि-प्राप्त मुनि रुचकवरद्वीप तक तथा विद्या-चारणलब्धि-प्राप्त मुनि नंदीश्वर द्वीप तक आकाशमार्ग से जा आ सकते हैं । जंघाचारण जहां कहीं भी जाना चाहते हैं, वे सूर्य-किरणों को निश्चित करके ही जाते हैं, पर विद्याचारण ऐसे भी जा सकते हैं । जंघाचारण एक ही उड़ान में अपने स्थान से रुचकवरद्वीप तक चले जाते हैं । वापिस लौटते समय प्रथम उड़ान में नंदीश्वर द्वीप तक और दूसरी उड़ान में अपने स्थान पर आते हैं । यदि ये मेरु पर्वत के शिखर पर जाना चाहें तो प्रथम उड़ान में पण्डकवन में चले जाते हैं । लौटते समय प्रथम उड़ान में नन्दनवन में तथा दूसरी उड़ान में अपने स्थान पर आ जाते हैं । जंघाचारणलब्धि चारित्र के अतिशय प्रभाव से प्राप्त होती है । उसके धारक पण्डकवन से आते समय दो उड़ानों में अपने स्थान पर आते हैं । विद्याचारण एक उड़ान में मानुषोत्तर पर्वत तक तथा दूसरी उड़ान में नंदीश्वर द्वीप तक आते हैं किन्तु वहां से लौटते समय एक ही उड़ान में अपने स्थान पर आ जाते हैं । विद्याचारण मेरु पर्वत पर जाते समय प्रथम उड़ान में नन्दनवन तथा दूसरी उड़ान में अपने स्थान पर आ जाते हैं । विद्याचारण लब्धि विद्या से प्राप्त होती है । उसका उपयोग करने से वह और अधिक विकसित होती है । अतः विद्याचारण एक ही उड़ान में पण्डकवन से अपने स्थान पर आ जाते हैं ।<sup>१३</sup>

## १०. आशीविष लब्धि

जिसके दाढ़ में विष है वह आशीविष है । इस लब्धि को प्राप्त करने वाला साप और बिच्छू की तरह दूसरों को शाप आदि द्वारा भार सकता है ।<sup>१४</sup>

## ११. केवली लब्धि

जिसने केवलज्ञान को प्राप्त कर लिया है वह केवली है । केवली समस्त रूपी, अरूपी पदार्थों को साक्षात् जान लेता है ।

## १२. अवधि लब्धि

जिससे रूपी द्रव्यों का साक्षात्कार किया जा सके वह अवधि लब्धि है ।

## १३. गणधर लब्धि

भगवान् के मुख से त्रिपदी को सुनकर गणधर जिस सामर्थ्य से द्वादशांगी की रचना करते हैं वह गणधर लब्धि है ।

## १४. पूर्वधर लब्धि

जो दश तथा चवदह पूर्वों को जानता है वह पूर्वधर है ।



## १५, १६, १७, १८. अर्हत् लब्धि, चक्रवर्ती लब्धि, बलदेव लब्धि, वासुदेव लब्धि

ये चारों लब्धियां शारीरिक सामर्थ्य की दृष्टि से गृहीत हैं। अर्हत् का शारीरिक सामर्थ्य अपरिमित होता है अतः उसे लब्धि कहा गया है।

चक्रवर्ती का शारीरिक बल वासुदेव के शारीरिक सामर्थ्य से द्विगुणा होता है अतः उसे लब्धि कहा गया है।

बलदेव का शारीरिक बल वासुदेव के शारीरिक सामर्थ्य से आधा होता है अतः उसे लब्धि कहा गया है।

वासुदेव में इतना शारीरिक सामर्थ्य होता है कि सोलह हजार राजा सांकल से बंधे हुए वासुदेव को यदि चतुरंगिणी सेना से खींचें तो भी वे उसे खींच नहीं सकते हैं, अतः उसे लब्धि कहा गया है।<sup>14</sup>

### १६. क्षीरमधुसर्पिराश्रव लब्धि

क्षीराश्रव लब्धि, मध्वाश्रव लब्धि, सर्पिराश्रव लब्धि ये तीन लब्धियां हैं। किन्तु यहां तीनों एक साथ ही विवक्षित हैं। इन लब्धियों के प्रभाव से व्यक्ति की वाणी अत्यन्त मधुर और मानसिक आह्लाद को उत्पन्न करने वाली होती है तथा उसके पात्र में आया हुआ स्वादिष्ट पदार्थ भी क्षीर, मधु और घृत की तरह स्वादिष्ट हो जाता है।<sup>15</sup>

### २०. कोष्ठकबुद्धि लब्धि

कोष्ठ की तरह जिसकी बुद्धि है वह कोष्ठबुद्धि है। जैसे कोठे में रखा हुआ धान्य सुरक्षित रहता है उसी प्रकार जो बुद्धि कालान्तर में भी नष्ट नहीं होती वह कोष्ठबुद्धि है। कोष्ठबुद्धि लब्धि को प्राप्त करने वाला आचार्य के मुख से सुने हुए सूत्र और अर्थ को कालान्तर में भी ज्यों का त्यों धारण करने में समर्थ होता है।<sup>16</sup>

### २१. पदानुसारी लब्धि

जो बुद्धि एक सूत्र-पद को सुनकर शेष अश्रुत पदों को यथार्थ जान लेती है वह पदानुसारी लब्धि है।<sup>17</sup>

### २२. बीजबुद्धि लब्धि

जो बुद्धि एक अर्थ पद का अनुसरण कर शेष अश्रुत प्रचुर अर्थ-पदों को जान लेती है वह बीजबुद्धि लब्धि है। यह लब्धि गणधरों को सर्वोत्कृष्ट रूप से प्राप्त होती है।<sup>18</sup>

### २३. तेजोलेश्या लब्धि

इस लब्धि का धारक व्यक्ति अपने प्रतिद्वन्द्वी के प्रति क्रोध के वशीभूत होकर अपने मुख से इतना अग्निसदृश तेज का निस्सारण करता है जिससे अनेक योजन दूरस्थ वस्तु को जलाया जा सकता है।<sup>19</sup> भगवती सूत्र में इस लब्धि की प्राप्ति का उपाय भी बतलाया गया है। गोशालक ने श्रमण भगवान् महावीर से पूछा—तेजोलेश्या

लब्धि की प्राप्ति कैसे होती है ? भगवान् ने प्रत्युत्तर देते हुए कहा—जो व्यक्ति छह महीने तक निरन्तर बेले-बेले (दो दिन का तप) की तपस्या करता है, पारणे में मुट्टी भर कुल्माष एक चूलुभर गर्म जल के साथ खाता है और आतापनभूमि में सूर्याभिमुख होकर ऊर्ध्वबाहु बन कर आतापन लेता है उसे छह मास के भीतर यह लब्धि प्राप्त हो जाती है ।<sup>११</sup>

### २४. शीततेजोलेश्या लब्धि

यह तेजोलेश्या की प्रतिपक्षी लब्धि है । इसमें तेजोलेश्या की प्रतिहत करने की शक्ति निहित है । इसका प्रयोग कृष्णा से ओतप्रोत होकर व्यक्ति तेजोलेश्या से उपहत मनुष्य के प्रति करता है । भगवान् महावीर ने वैश्यायन बालतपस्वी द्वारा छोड़ी हुई तेजोलेश्या लब्धि को शीततेजोलेश्या लब्धि से ही निरस्त किया था ।<sup>१२</sup>

### २५. आहारक लब्धि

जिस लब्धि से आहारक शरीर का निर्माण किया जाए वह आहारकलब्धि है । इस लब्धि के अधिकारी चतुर्दश पूर्वधर होते हैं । महाविदेह क्षेत्र के तीर्थंकरों के पास जाने के लिए आहारकशरीर का निर्माण करते हैं । तीर्थंकरों के समीप जाने के तीन कारण हैं—(१) महाविदेह क्षेत्र के तीर्थंकरों का अतिशय देखने के लिए (२) अर्थ विशेष को जानने के लिए और (३) सन्देह का निवारण करने के लिए ।<sup>१३</sup>

### २६. वैकुण्ठिक लब्धि

जिससे इच्छित रूप बनाया सके वह वैकुण्ठिक लब्धि है ।<sup>१४</sup>

### २७. अक्षीणमहानस लब्धि

जो रसोई समाप्त नहीं होती वह अक्षीणमहानस है । अक्षीणमहानसलब्धि को प्राप्त करने वाला जब तक स्वयं भोजन नहीं करता तब तक रसोई में बना भोजन चाहे कितने ही व्यक्ति खा ले, समाप्त नहीं होता । उसके भोजन करने पर वह समाप्त हो जाता है ।<sup>१५</sup>

### २८. पुलाक लब्धि

जिस व्यक्ति को यह लब्धि प्राप्त होती है उसकी शक्ति इतनी बढ़ जाती है कि वह चाहे तो चक्रवर्ती की सेना-सदृश विशाल सेना, वाहन आदि को चूर-चूर कर सकता है । इस लब्धि की प्राप्ति तप और श्रुत की आराधना से होती है ।<sup>१६</sup>

### २९. विद्याधर लब्धि

जिससे आकाश में गमन किया जा सके ऐसी विद्या को धारण करने के सामर्थ्य को विद्याधर लब्धि कहते हैं ।<sup>१७</sup>

उपरोक्त लब्धियों में अर्हत् लब्धि, चक्रवर्ती लब्धि, बलदेव लब्धि, वामुदेव लब्धि, संभिन्नश्रोत लब्धि, चारणलब्धि, पूर्वधरलब्धि, गणधर लब्धि, पुलाकलब्धि और आहारकलब्धि—ये दश लब्धियां भव्य स्त्रियों को प्राप्त नहीं होती । अभव्य पुरुषों को इन दश लब्धियों के अतिरिक्त केवली लब्धि, ऋजुमति लब्धि और विपुल-मति लब्धि भी प्राप्त नहीं होती । अभव्य स्त्रियों को इन तेरह लब्धियों के अतिरिक्त

मधुक्षीराश्रव लब्धि भी प्राप्त नहीं होती । भव्य पुरुषों को ये सभी लब्धियाँ प्राप्त हो सकती है ।” किन्तु भावशुद्धि और तपस्या जरूरी है क्योंकि ये सभी लब्धियाँ भावशुद्धि और तपः साधना से ही प्राप्त होती हैं ।”

स्मरणीय है ‘पातंजल योग दर्शन’ में भी अणिमा आदि आठ योगज लब्धियों का वर्णन उपलब्ध होता है ।” □□

### संदर्भ

१. आवश्यक उपोद्घात पत्र ७९—गुणप्रत्ययो हि सामर्थ्यविशेषो लब्धिरिति प्रसिद्धिः । और देखिए—आवश्यक निर्युक्ति (६९, ६७) पर हारिभद्रीया वृत्ति ।
२. आवश्यक निर्युक्ति गाथा—६९, ७०
३. आवश्यक उपोद्घात पत्र ८०—एताश्चान्यासामपि क्षीराश्रवमध्वाश्रवसर्पिराश्रव-कोऽबुद्धिपदानुसारित्वाक्षीणमहानससत्त्वप्रभृतिलब्धीनामुपलक्षणं, ते ता अपि प्रतिपत्तव्याः । प्रभृतिग्रहणात् गणधरत्वपुलाकत्वतेजःसमुद्घाताहारकशरीर-करणादिलब्धयो वेदितव्याः ।
४. आवश्यक उपोद्घात पत्र ८१ ।
५. प्रवचन सारोद्धार, द्वार ७२ ।
६. (क) आवश्यक चूर्ण पत्र ६८—तत्थ आमोसधी नाम रोगाभिभूतं अप्पाणं परं वा जं चैव तिगिच्छामि त्ति संचितेऽण आमुसति तं तक्खणा चैव ववगयरोगातंकं करोति, सा य आमोसधीलद्धी सरीरेगदेसे वा सव्वसरीरे वा समुप्पज्जति त्ति, एवमेसा आमोसहि त्ति भन्नति ।  
(ख) आवश्यक उपोद्घात पत्र ७७—तत्र आमर्षणमामर्षः, संस्पर्शनमित्यर्थः, स एव औषधिर्यस्या सावमर्षौषधिः, करादिसंस्पर्शमात्रादेव व्याध्यप-नयनसमर्थो, लब्धिलब्धिमतोरभेदोपचारात् साधुरेवामर्षौषधिलब्धिरित्यर्थः, एवं शेषपदेऽपि भावना कार्या ।  
(ग) आवश्यक उपोद्घात पत्र ७७—इहामर्षौषधिलब्धिः कस्यापि शरीरैकदेशे समुत्पद्यते, कस्यापि सर्वस्मिन् शरीरे, तेनात्मानं परं वा यदा व्याध्य-पगमबुद्ध्या परामृशति तदा तदपगमो भवति ।  
(घ) प्रवचनसारोद्धार पत्र ४३०—संस्पर्शनमामर्षः स एवौषधिर्यस्या सावमर्षौषधिः—करादिसंस्पर्शमात्रादेव विविधव्याधिव्यपनयनसमर्थो लब्धिलब्धिमतोरभेदोपचारात् साधुरेवामर्षौषधिरित्यर्थः ।
७. (क) आ० चू० पत्र ६८—तत्थ विप्पोसधिगहणेण विट्ठस गहणं कीरइ, तं चैव विट्ठं ओसहिसामत्थजुत्तत्तेण विप्पोसधी भवति, तं च जीवए (जं चैव) विप्पोसधी य रोगाभिभूतं अप्पाणं वा परं वा छिवति तं तक्खणा चैव ववगयरोगायंकं करोति, से तं विप्पोसधी ।  
(ख) आ० उपोद्घात पत्र ७७—मूत्रस्य पुरीषस्य वाऽवयवो विट् उच्यते, अन्ये त्वाहुः—विडिति विष्ठा प्रु इति प्रश्रवणं ते औषधिर्यस्यासौ ।

(ग) प्रवचनसारोद्धार पत्र ४३०—‘मृत्त पुरीसाण विप्पुसो वावि—मूत्रपुरीषयो-  
विप्रुषः—अवयवा इह विप्रुडुच्यते । ‘विप्पुसो वाऽवि’ त्ति पाठस्तु ग्रन्था-  
न्ररेष्वदृष्टत्वादुपेक्षितः, अथ चावश्यमेतद्व्याख्यानेन प्रयोजनं तदेत्थं  
व्याख्येयं—वा शब्दः समुच्चये अपि शब्द एवकारार्थो भिन्नक्रमश्च, ततो  
मूत्रपुरीषयोरेवायवा इह विप्रुडुच्यते इति, अन्ये तु भाषन्ते—विडिति विष्ठा  
पत्ति प्रश्रवणं मूत्रं ।

८-९. (क) आ० चूर्णि पत्र ६८—खेलजल्ला पसिद्धा, तेऽवि एवं चेव ओसहिसामत्थ-  
जुत्ता कस्सति तवरिद्धिसंपन्नस्स भवन्ति त्ति ।

(ख) आ० उपोद्घात पत्र ७७—खेलः-श्लेष्मा औषधिर्यस्य स तथा, तथा  
जल्लो—मलः, स औषधिर्यस्य स तथा, सुगन्धाश्चैते भवन्ति विडादय-  
स्तल्लब्धिमतं । विडादिभिरपि तल्लब्धिमन्तो यदात्मानं परं वा रोगाप-  
नयनबुद्ध्या परामृशन्ति तदा तद्रोगापगमः ।

(ग) प्रवचनसारोद्धार पत्र ४३०—खेलः श्लेष्मा जल्लो—मलः कर्णवदननासिका  
नयनजिह्वासमुद्भवः शरीरसम्भवश्च तौ खेलजल्लौ यत्प्रभावातः सर्व-  
रोगोपहारकौ सुरभी च भवतः साक्रम्णेण खेलौषधिर्जल्लौषधिश्च ।

१०. (क) आ० चूर्णि पत्र ६८—संभिन्नसोयरिद्धी नाम जो एगतरेण वि सरीरदेसेण  
पंच वि इंदियविसए उवलभति सो संभिन्नसोय त्ति भन्नति ।

(ख) आ० चूर्णि पत्र ७०—संभिन्नसोतो णाम जति बारसजोयणचक्कवट्टि-  
खंधावारे जमगसमगं बोल्लेज्जा सव्वेसि पत्तेयं पत्तेयं जाणति, एगेण  
वा इंदिएणं पंच वि इंदियत्थे उवलभति, अहवा सव्वेहि अंगोवंगेहि,  
अहवा चक्कवट्टिखंधावारे सव्वतूराणं विसेसं उवलभति, एस संभिन्न-  
सोओ भन्नति ।

(ग) आ० उपद्घात पत्र ७७—‘संभिन्नसोय’ इति यः सर्वैरपि शरीरदेशैः  
श्रृणोति स संभिन्नश्रोता, अथवा श्रोतांसि-इन्द्रियाणि संभिन्नानि  
एकैकशः सर्वविषयर्यस्य स संभिन्नश्रोता—एकतरेणापीन्द्रियेण समस्ता-  
परेन्द्रियगम्यान् विषयान् योऽवगच्छति स संभिन्न श्रोता इत्यर्थः, अथवा  
श्रोतांसि-नि-इन्द्रियाणि संभिन्नानि-परस्परत एकरूपतामापन्नानि यस्य  
स तथा, श्रोत्रं चक्षुः कार्यकारित्वात् चक्षुरूपतामापन्नं, चक्षुरपि श्रोत्रकार्य-  
कारित्वात् तद्रूपतामापन्नमित्येवं संभिन्नानि यस्य परस्परमिन्द्रियाणि  
स संभिन्नश्रोता इति भावः, अथवा द्वादशयोजनविस्तृतस्य चक्रवर्तिकट-  
कस्य युगपत् ब्रुवाणस्य तत्तूर्यसङ्घातस्य वा युगपदास्फाल्यमानस्य संभि-  
न्नान्-लक्षणतो विधानतश्च परस्परतो विभिन्नान् जननिवहसमुत्थान्  
शङ्खकाहलाभेरीमाणकढक्कादितूर्यसमुत्थान् वा युगपदेव सुबहून् शब्दान्  
यः श्रृणोति स संभिन्नश्रोता, उक्तं च—

जो सुणइ सव्वतो सुणइ सव्वविसए य सव्वसोएहि ।

सुणइ बहूए व सहे मिन्ने संभिन्नसोओ सो ॥

(घ) प्रवचनसारोद्धार पत्र ४३०—‘सम्प्रति सम्भिन्नश्रोतोलब्धिमाह’—‘जो’ इत्यादि, यः सर्वतः—सर्वैरपि शरीरदेशैः श्रुणोति स सम्भिन्नश्रोता, अथवा यः सर्वानपि शब्दादीन् विषयान् सर्वैरपि श्रोताभिः—इन्द्रियैर्जानाति, एकतरेणापीन्द्रियेण समस्तापरेन्द्रियगम्यान् विषयान् योऽवगच्छतीत्यर्थः, स सम्भिन्नश्रोतोलब्धिमान्, अथवा द्वादशयोजनविस्तृतस्य चक्रवर्तिकटकस्य युगपद् ब्रूवाणस्य तत्तूर्यसंघातस्य वा समकालमास्फाल्यमानस्य सम्भिन्नान्—लक्षणतो विधानतश्च परस्परं विभिन्नान् जननिवहसमुत्थान् शङ्खकाहलभेरीभाणकढक्कादितूर्यसमुत्थान् वा युगपदेव च सुबहून् शब्दान् यः श्रुणोति स संभिन्नश्रोताः सम्भिन्नश्रोतोलब्धिरिति ।

११. (क) आ० चूर्णि पत्र ६८—उज्जुमतिलद्विगहणेण य विउलमतिलद्वीऽपि गहिता चैव, तत्थ उज्जुमती नाम मनोगतं भावं पडुच्च सामण्णमेत्तग्गाहिणी मती जस्स सो उज्जुमती भवति, विउलमती नाम मणोगयं भावं पडुच्च सपज्जायगाहिणी मती जस्स सो विउलमती भन्नति ।

(ख) आ० उपोद्घात पत्र—ऋज्वी-प्रायो घटादिग्राहिणी मतिः ऋजुमतिः-विपुलमतिमनःपर्यायज्ञानापेक्षया किञ्चिदविशुद्धतरं मनःपर्यायज्ञानमेव ।

(ग) प्रवचनसारोद्धार पत्र ४३१—मनःपर्यायज्ञानं द्वेधा—ऋजुमति विपुलमतिश्च । तत्र सामान्यघटादिवस्तुमात्र चिन्तनप्रवृत्तमनःपरिणामग्राहि किञ्चिदविशुद्धतरमर्धवृत्तीयाङ्गुलहीनमनुष्यक्षेत्रविषयं ज्ञानं ऋजुमतिः, पर्यायशतोपेतघटादिवस्तुविशेषचिन्तनप्रवृत्तमनोद्रव्यग्राहि स्फुटतरं संपूर्णमनुष्यक्षेत्रविषयं ज्ञानं विपुलमतिलब्धिः ।

१२. (क) आ० चूर्णि पत्र ६८—तत्थ सव्वोसधी नाम सव्वाओ ओसधीओ आमोसधिमादीयाओ एगजीवस्स चैव जस्स समुप्पण्णाओ स सव्वोसधी भन्नति, अहवा सव्वसरीरेण सव्वसरीरावयवेहिं वा खेलोसधिमादीहिं जो ओसधि—सामत्थजुत्तो सो सव्वोसधी भन्नति, अहवा सव्ववाहीणं जो निगगहसमत्थो सो सव्वोसधी भन्नति ।

(ख) आ० उपोद्घात पत्र ७८—‘सव्वोसहि’ इति सर्व एव विहमूत्रकेशनखादयोऽवयवाः सुरमयो व्याध्यपनयनसमर्थत्वादौषधयो यस्यासौ सर्वौषधिः, अथवा सर्वा—आमर्षौष्यादिका औषधयो यस्य एकस्यापि साधोः स तथा ।

(ग) प्रवचनसारोद्धार पत्र ४३०—यन्माहात्म्यतो विण्मूत्रकेशनखादयश्च सर्वेऽवयवाः समुदिताः सर्वत्र भेषजीभावं सौरभं च भजन्ते सा सर्वौषधिरिति ।

१३. (क) आ० उपोद्घात पत्र ७८—‘चारण’ इति चरणं-गमनं तद्विद्यते येषां ते चारणाः, ज्योस्नादिभ्योऽण् इति मत्वर्थीयोऽण् प्रत्ययः, तत्र गमनमन्येषामप्यस्ति ततो विशेषणान्यथानुपपत्त्या चरणमिह विशिष्टं गमनागमनं

चाभिगृह्यते, अत एवातिशयने मत्वर्थीयोऽयं, यथा रूपवती कन्येत्यत्र, ततोऽतिशायिगमनागमनलब्धिसम्पन्नाः चारणाः, ते च द्विभेदाः—जङ्घा-  
 चारणा विद्याचारणाश्च, तत्र ये चारित्रतपोविशेषप्रभावतः समुद्भूत-  
 गमनागमनविषयलब्धिसम्पन्नास्ते जङ्घाचारणाः, ये पुनर्विद्यावशतः  
 समुत्पन्नगमनागमनलब्धयस्ते विद्याचारणा नन्दीश्वरं, तत्र जङ्घाचारणा  
 यत्र कुत्रापि गन्तुमिच्छवस्तत्र रविकरानपि निश्चीकृत्य गच्छन्ति, विद्या-  
 चारणास्त्वेवमेव, जङ्घाचारणश्च रुचकवरद्वीपं गच्छन् एकैर्नैवोत्पातेन  
 गच्छति. प्रतिनिवर्त्तमानस्तु प्रथमेनोत्पातेन नन्दीश्वरमायाति, द्वितीयेन  
 स्वस्थानं, यदि पुनर्मरुशिखरं जिगमिषुस्तर्हि प्रथमेनैवोत्पातेन पण्डकवन-  
 मभिरोहति, प्रतिनिवर्त्तमानस्तु प्रथमेनोत्पातेन नन्दनवनमागच्छति,  
 द्वितीयेन स्वस्थानमिति, जङ्घाचारणो हि चारित्रतिशयप्रभावतो भवति,  
 ततो लब्ध्युपजीवेन औत्सुक्यभावतः प्रमादसम्भवाच्चारित्रातिशयनिबन्धना  
 लब्धिरपि हीयते, ततो प्रतिनिवर्त्तमानो द्वाभ्यामुत्पाताभ्यां स्वस्थानमायाति,  
 विद्याचारणाः पुनः प्रथमेनोत्पातेन मानुषोत्तरं पर्वतं गच्छन्ति, द्वितीयेन तु  
 नन्दीश्वरं, तत्र च गत्वा चैत्यानि वन्दते, ततः प्रतिनिवर्त्तमानस्त्वेकैर्नैवो-  
 त्पातेन स्वस्थानमायाति, तथा मेरुं गच्छन् प्रथमेनोत्पातेन नन्दनवनं  
 गच्छति, द्वितीयेन पण्डकवनं, तत्र चैत्यानि वन्दित्वा ततः प्रतिनिवर्त्तमान  
 एकैर्नैवोत्पातेन स्वस्थानमायाति, विद्याचारणो हि विद्यावशाद् भवति,  
 विद्या च परिशील्यमाना स्फुटा स्फुटतरोपजायते, ततः प्रतिनिवर्त्तमानस्य  
 शक्त्यतिशयसम्भवादेकैर्नैवोत्पातेन स्वस्थानमायाति ।

(ख) आ० चू० पत्र ६९—एतथ चारणलद्धी णाम दुविहा चारणा भवति-जंघा-  
 चारणा य विज्जाचारणा य, ततथ जंघाचारणलद्धिसंपन्नो अणगारो  
 लूतापुडकतंतुमेत्तमवि णीसं काऊण गच्छति. विज्जाचारणलद्धीओ पुण  
 विज्जातिसयसामत्थजुत्ताए पुव्वविदेहअवरविदेहादीणि खेत्ताणि अप्पेण  
 कालेण आगासेण गच्छति त्ति ।

१४. (क) आ० चूर्ण पत्र ६९—तत्तण आसीविसो लद्धीणाम आसीविसो विष कुवितो  
 जो देहविणिवायसामत्थजुत्तो सो आसीविसलद्धीओ भन्नति ।

(ख) आ० उपोद्घात पत्र ७८—'आसीविस' इति, आस्यो—दंष्ट्रास्तासु विषं  
 येषां ते आशीविषाः..... एते हि तपश्चरणानुष्ठानतोऽन्यतो वा गुणत  
 आशीविषवृश्चिकभुजङ्गादिसाध्यां क्रियां कुर्वन्ति, शापप्रदानादिना परं  
 व्यापादयन्तीति भावः ।

(ग) प्रवचनसारोद्धार पत्र ४३१—आस्यो-दंष्ट्रास्तासु गतं-स्थितं महद् विषं  
 येषां भवति ते आशीविषाः, ते च द्विभेदाः—कर्मभेदेन जातिभेदेन च ।  
 तत्र कर्मभेदेन पंचेन्द्रियतिर्यग्ग्योनयो मनुष्याः देवाश्च सहस्रारान्ता  
 इत्यनेकविधाः, एते हि तपश्चरणानुष्ठानतोऽन्यतो वा गुणत आशीविष-

वृश्चिकभुजङ्गादिसाध्यां क्रियां कुर्वन्ति, शापप्रदानादिना परं व्यापादयन्तीति भावः ।

१५. (क) आ० चूर्णि पत्र ६९—इयाणि जा अरहंत चक्कवट्टिबलदेववासुदेवाणं च सारीरबलसामत्थं पडुच्च रिद्धी तं भणीहामि.....बलदेवस्स सारीरबलसामत्थरिद्धी वासुदेवसारीरबलसामत्थरिद्धीतो अद्धप्पमाणा सुहग्गहणतरिका भविस्सति, वासुदेवस्स य सारीरबलसामत्थरिद्धीए चक्कवट्टिस्स बलरिद्धी अहियतरियत्ति काऊण पच्छा भणीहामि । चक्कवट्टिबलरिद्धीओ य अरिहंताणं भगवंताणं बहुतरियत्ति काऊण पच्छा भणीहामि । तत्थ जा सा वासुदेवसारीरबलसामत्थरिद्धी सा इमाहि दोहि गाहाहि भन्नति । तं जहा—सोलसरायसहस्सा ॥७१॥ घेतूणं संकलं सो ॥७२॥

(ख) आ० उपोद्घात पत्र ७९—

सोलसरायसहस्सा सब्बबलेणं तु संकलनिबद्धं ।

अंइत्ति वासुदेवं, अगडतडंभी ठियं संतं ॥

घेतूण संकलं सो, वामगहत्थेण अंइमाणाणं ।

भुंजिज्ज विलिपिज्ज व महुमहणं ते न चाएत्ति ॥

जं केसवस्स उ बलं, तं दुगुणं होइ चक्कवट्टिस्स ।

तत्तो बला बलावगा, अपरिमियबला जिणवरिदा ॥

१६. (क) आ० चूर्णि पत्र ७०-७१—खीरासवो बोलेज्ज णज्जति खीरासवं मुयत्ति, खीरासवो नाम जहा चक्कवट्टिस्स लक्खो गावीणं, ताणं जं खीरं तं अद्धद्धस्स दिज्जति, तं चातुरक्कं, एवं खीरासवो भवति, एवं महुआसवा वि बुद्धघाउपेक्ष्य परूवेयव्वा ।

(ख) आ० उपोद्घात पत्र ८०—तत्र पंड्रेक्षुचारिणीनां गवां लक्षस्य क्षीर-मर्द्धाद्धंक्रमेण दीयते यावदेवमेकस्याः पीतगोक्षीरायाः क्षीरं, तत्किल चातुरक्यमित्यागमे गीयते, तद्यथोपभुज्यमानमतीवमनःशरीरप्रह्लाद—हेतुरुपजायते तथा यद् वचनमाकर्ण्यमानं मनःशरीरसुखोत्पादनाय प्रभवति ते क्षीराश्रवाः, क्षीरमिव वचनमासमन्तात् श्रवन्तीति क्षीराश्रवाः इति व्युत्पत्तेः, तथा मध्वपि किमप्यतिशयि शर्करादिमधुरद्रव्यं द्रष्टव्यम् ।

(ग) प्रवचनसारोद्धार पत्र ४३१—क्षीरं-दुग्धं मधु-मधुरद्रव्यं सर्पिः-घृतं एतत्स्वादोपमानं वचनं वैरस्वाम्यादिवत्तदाश्रवाः—क्षीरमधुसर्पिराश्रवा भवन्ति ।.....अथवा येषां पात्रपतितं कदन्नमपि क्षीरमधुसर्पिरादि-रसवीर्यविपाकं जायते ते क्रमेण क्षीराश्रविणो मध्वाश्रविणः सर्पिराश्रविण इत्यादि ।

१७. (क) आ० चूर्णि पत्र ७०—कोट्टुवुद्धी नाम जहा कोट्टुए धण्णं एवं जं सिक्खति ।

(ख) आ० उपोद्घात पत्र ८०—कोष्ठ इव धान्य येषां बुद्धिराचार्यमुखाद् विनिर्गतौ तदवस्थावेव सूत्रार्थौ धारयति न किमपि तयोः कालान्तरेऽपि गलति ते कोष्ठबुद्धयः, कोष्ठं इव बुद्धिर्येषां ते कोष्ठबुद्धयः इति व्युत्पत्तेः ।

(ग) प्रवचनसारोद्धार पत्र ४३१—कोष्ठनिक्षिप्तधान्यानीव सुनिर्गला—अविस्मृ-  
त्वाच्चिरस्थायिनः सूत्रार्था येषां ते कोष्ठधान्यसुनिर्गलसूत्रार्थाः कोष्ठबुद्धयः  
कोष्ठे इव धान्यं या बुद्धिराचार्यमुखाद् विनिर्गतौ तदवस्थावेव सूत्रार्थौ  
धारयति न किमपि तयोः सूत्रार्थयोः कालान्तरेऽपि गलति सा कोष्ठबुद्धि-  
लब्धिरिति भावः ।

१८. (क) आ० चूर्णि पत्र ७०—एणेणं पदेणं सेसमवि जाणाति जो सो पयाणुसारी ।

(ख) आ० उपोद्घात पत्र ८०—येषां पुनर्बुद्धिरेकमपि सूत्रपदमवधार्यं शेषम-  
श्रुतमपि तदवस्थमेव श्रुतमवगाहते, ते पदानुसारिबुद्धयः ।

(ग) प्रवचनसारोद्धार पत्र ४३१—योऽध्यापकादेः केनापि सूत्रपदेनाधीयते  
बह्यपि सूत्रं स्वप्रज्ञयाऽभ्युह्य तदवस्थमेव गृह्णाति स पदानुसारि-  
लब्धिमान् ।

१९. (क) आ० चूर्णि पत्र ७०—तत्थ बीजबुद्धी नाम बीजमात्रेण उवलमति जहा  
सित्थेण दोणपाकं ।

(ख) आ० उपोद्घात पत्र ८०—येषां पुनर्बुद्धिः एकमर्थपदं तथाविध-  
मनुसृत्य शेषमश्रुतमपि यथावस्थितं प्रभूतमर्थपदमवगाहते ते  
बीजबुद्धयः ।

(ग) प्रवचनसारोद्धार पत्र ४३१—उत्पादव्ययधोव्यययुक्तं सदित्यादिवदर्थप्रधानं  
पदमर्थपदं तेनैकेनापि बीजभूतेनाधिगतेन योऽन्यमश्रुतमपि यथावस्थितं  
प्रभूतमर्थमवगाहते स बीजबुद्धिलब्धिमान् । इयं च बीजबुद्धिलब्धिः  
सर्वोत्तमप्रकर्षप्राप्ता गणभृतां भगवतां, ते हि उत्पादादिपदत्रयमवधार्यं  
सकलमपि द्वादशाङ्ख्यात्मकं प्रवचनमभिसूत्रयन्तीति ।

२०. प्रवचनसारोद्धार पत्र ४३२—तत्र तेजोलेश्यालब्धिः क्रोधाधिकयात्  
प्रतिपन्थिनं प्रति मुखेनानेकयोजनप्रमाणक्षेत्राश्रितवस्तुदहनदक्षतीव्रतर-  
तेजोनिर्जनशक्तिः ।

२१. भगवती सूत्र, शतक २५, सूत्र ६९, ७०—कहणं भन्ते ! संखित्तविउयतेयलेस्से  
भवति ? तए णं अहं गोयमा ! मंखलिपुत्तं एवं वयासी-जेणं गोसाला ! एगाए  
सणहाए कुम्मासपिडियाए एणेण य वियडासएणं छट्टं—छट्ठेणं अणिविखत्तेणं  
तवोकम्मेणं उड्डं बाहाओ पगिज्झिय-पगिज्झिय सूराभिमुहे आयादणभूमीए  
आयावेमाणे विहरइ । से णं अंतो छण्हं मासाणं संखित्तविउलतेयलेस्से  
भवइ ।

२२. प्रवचनसारोद्धार पत्र ४३२—शीतलेश्यालब्धिस्त्वगण्यकारुण्यवशादनुग्राह्यं प्रति



तेजोनेश्याप्रशमनप्रत्यलशीतलतेजोविशेषविमोचनसामर्थ्यम् ।

२३. प्रवचनसारोद्धार पत्र ४४५—अथ चतुर्दशपूर्वधरोऽपि किमर्थमाहारकशरीर-  
मारचयति ? उच्यते, तीर्थकरपादपीठोपकण्ठगमनाय, तदपि किं निमित्तमित्यतः  
आह—'निश्चयरे' त्यादि, तीर्थकराद्धिसंदर्शनार्थं अर्थाविग्रहणहेतोर्वा यद्धा  
संशयव्यवच्छेदार्थं जिनपादमूले चतुर्दशपूर्वविदो गमनं भवति । इदमैदम्पयंमत्र-  
सकलत्रैलोक्यातिशायिनीमष्टमहाप्रतिहार्यादिकामनुपमामार्हतीं समृद्धिमखिलमा-  
लोकयितुमुत्पन्नकृतहलस्तथाविधान् वा नवनवार्थसार्थान् जिघृक्षुः अथवा  
कस्मिंश्चिदर्थेऽत्यन्तगहने संदिहानस्तदर्थंविनिश्चितये कश्चिच्चतुर्दशपूर्व-  
विदेहादिक्षेत्रवर्तिवीतरागचरणकमलमूलमाहारकशरीरेण समुत्सर्पति,  
न खल्वौदारिकेण वपुषा शक्यते तत्र गन्तुं ।
२४. आ० चू० पत्र ७१—इच्छितं विउव्वति वे उव्वी ।
२५. (क) आ० चू० पत्र ७१—अक्खीणमहाणसियस्स भिक्खं ण अन्नेणं णिट्ठविज्जति,  
तंमि जिमिते निट्ठाति ।  
(ख) आ० उपोद्घात पत्र ८०—अक्षीणं महानसं येषां ते अक्षीणमहानसाः,  
येषां भिक्षा नान्यैर्बहुभिरप्युपभुज्यमाना निष्ठां याति, किन्तु तैरेव जिमितैः,  
तेऽक्षीणमहानसाः ।  
(ग) प्रवचनसारोद्धार पत्र ४३१—येनानीतं भैक्षं बहुभिरपि-लक्षसङ्ख्यैरप्य-  
न्यैस्तृप्तितोऽपि भुक्तं न क्षीयते यावदात्मना भुङ्क्ते, किन्तु तेनैव भुक्तं  
निष्ठां याति तस्याक्षीणमहानसीलब्धिः ।
२६. प्रवचनसारोद्धार पत्र २१०—पुलाकशब्देनासारं—निःसारं धान्यं तन्दुलकणशून्यं  
पलञ्जिरूपं भण्यते तेन पुलाकेन समं—सदृशं यस्य साधोश्चरणं-चारित्र्यं भवति स  
पुलाकः, पुलाक इव पुलाक इति कृत्वा, अयमर्थः-तपःश्रुतहेतुकायाः सङ्गादिप्रयो-  
जने सबलस्य चक्रवर्त्यैदिरपि नूर्णेने समर्थाया लब्धेरुपजीवनेन ज्ञानाद्यतिचारा-  
सेवनेन वा सकलसंयमसारगलनात् पलञ्जिवन्निःसारो यः स पुलाकः, स च  
द्विधा लब्ध्या सेवया च, लब्धिपुलाकः सेवापुलाकश्चेत्यर्थः । तत्र लब्धिपुलाको  
देवेन्द्रद्विसमसमृद्धिको लब्धिविशेषयुक्तः, यदाह—  
संघाइयाण कज्जे चुण्णेज्जा चककवट्टिमवि जीए ।  
तीए लद्धीए जुओ लद्धिपुनाओ मुण्यव्वो ॥  
२७. आ० चू० पत्र ७१—विज्जाधरस्स विज्जा आगासगमणा ।  
२८. प्रवचनसारोद्धार पत्र ४३२—  
भवसिद्धियपुरिसाणं एयाओ हुंति भणियलद्धीओ ।  
भवसिद्धियमहिलाण वि जत्तिय जायंति तं वोच्छं ॥१॥  
अरहंतचक्किसेवबलसंभिन्ने य चारणे पुव्वा ।  
गणहरपुलायआहारगं च न हु भवियमहिलाणं ॥२॥  
अभवियपुरिसाणं पृण दस पुव्विलाउ केवलित्तं च ।  
उज्जुमई विउलमई तेरस एयाउ न हु हुंति ॥३॥

अभविप्रमहिलाणं पि हु एयाओ हुंति भणियलद्धीओ ।

महुखीरामवलद्धीवि नेय सेसा उ अवरुद्धा ॥४॥

अथ भव्यत्वाभव्यत्वविशिष्टानां पुरुषानां महिलानां च यावत्यो लब्धयो भवन्ति तत् प्रतिपादयति—‘भवे’ त्यादि गाथा चतुष्कं, भवा—भाविनी सिद्धिः—मुक्तिपदं येषां ते भवसिद्धिका भव्या इत्यर्थः, ते च ते पुरुषाश्च ते तथा तेषामेताः-पूर्वोक्ताः सर्वा अपि लब्धयो भवन्ति, तथा भवसिद्धिकमहिलानामपि यावत्यो लब्धयो न जायन्ते तद् वक्ष्ये । प्रतिज्ञातमेव निर्वाहयति—‘अरिहंते’ त्यादि अर्हच्च ऋत्रतिवासुदेववलदेवसम्भिन्नश्रोतश्चारणपूर्वधरगणधर पुलाकाहार-लब्धिलक्षणा एता दश लब्धयो भव्यमहिलानां-भव्यस्त्रीणां ‘न हु’ नैव भवन्ति, शोषास्त्वाष्टदश लब्धयो भव्यस्त्रीणां भवन्तीति सामर्थ्याद् गम्यते, तथा अनन्तर-मुक्तास्तावद् दश लब्धयः केवलित्वं च—केवलिलब्धिरन्यच्च ऋजुमतिविपुलमति लक्षणं लब्धिद्वयमित्येतास्त्रयोदश लब्धयः पुरुषाणामप्यभव्यानां नैव कदाचनापि भवन्ति, शोषाः पुनः पञ्चदश भवन्तीति भावः, अभव्यमहिलानामप्येताः पूर्व-भणितास्त्रयोदश लब्धयो न भवन्ति, चतुर्दशी मधुक्षीराश्रवलब्धिरपि नैव तासां भवति, शोषास्त्वैतद्ब्यतिरिक्ताश्चतुर्दशलब्धयोऽवरुद्धाः भवन्तीत्यर्थः ।

२९. प्रवचनसारोद्धार, ७२—

परिणामतववसेणं एमाइ हुंति लद्धीओ ।

३०. पातंजल योग दर्शन, विभूति पाद, सूत्र ४५ इत्यादि ।

□

“आदर्शोऽत्र जिनेन्द्र आप्तपुरुषः रत्नत्रयाराधना,  
स्याद्वादः समयः समन्वयमयः सृष्टिः मता शाश्वती ।  
कर्तृत्वं मुखदुःखयोः स्वनिहितं ध्रौव्यं व्ययोत्पत्तिमत्,  
एका मानवजातिरित्युपगमोऽसौ जैनधर्मो महान् ॥”

## संस्कृत-शतकपरम्परा में आचार्य विद्यासागर के शतक एक परिचय

□ श्रीमती (डॉ०) आशालता मलैया

“काव्य जीवन-प्रकृति का अन्तर्दर्शन है, उसकी अनुभूति है। यह अनुभूति कोई भावुकताजन्य स्फूर्ति नहीं, न कोई आध्यात्मिक कल्पना है, बल्कि अखण्ड मानव-जीवन के व्यक्तित्व की अनुभूति है।”<sup>१</sup> “अति-प्राकृत में प्राकृत-सौन्दर्य, सीमाहीन में ससीम माधुर्य और अन्तहीन में सान्त भाव देखना ही कवि की साधना है।”<sup>२</sup> “जीवन में जो कुत्सित, अस्थिर, अमंगलकर और असंस्कृत पशुत्व है, उसी में सुन्दर, शाश्वत, कल्याणमय और संस्कृत देवत्व को ढूँढ़ने के प्रयास में कला का जन्म और उसकी अभिव्यक्ति में कला की सिद्धि है।”<sup>३</sup> “काव्य में कला का उत्कर्ष एक ऐसे बिन्दु तक पहुँच गया है जहाँ से वह ज्ञान को भी सहायता दे सकता है। क्योंकि सत्य, काव्य का साध्य और सौन्दर्य उसका साधन है। एक अपनी एकता में असीम रहता तो दूसरा अपनी अनेकता में अनन्त, इसी से साधन के परिचय स्निग्ध खण्ड रूप से साध्य की विस्मयभरी अखण्ड स्थिति तक पहुँचने का क्रम-आनन्द की लहर पर लहर उठाता हुआ चलता है।”<sup>४</sup> “काव्यानुशीलन से व्यक्ति ऊँचा उठ जाता है और उसके जीवन में सन्तुलन आ जाता है। शृंगार जो लौकिक अनुभव में विषयानन्द का रूप धारण कर लेता है, काव्य में परिष्कृत हो आत्मानन्द के निकट पहुँच जाता है।”<sup>५</sup> अपने स्रजन से साहित्यकार स्वयं भी बनता है, क्योंकि उसमें नए संवेदन जन्म लेते हैं, नया सौन्दर्य-बोध उदित होता है और नए जीवन-दर्शन की उपलब्धि होती है। सारांश यह है कि वह जीवन की दृष्टि से समृद्ध होता जाता है। इसी से साहित्य-सृष्टि का लक्ष्य स्वान्तः सुखाय का विरोधी नहीं हो सकता। पर यह क्रिया अपने कर्त्ता को बनाने के साथ उसके परिवेश को भी बनाती चलती है। क्योंकि समष्टि में इन्हीं नवीन संवेदनों, सौन्दर्य-बोधों और विश्वासों का स्फुरण होता है।”<sup>६</sup> “साहित्य ऐसा होना चाहिए जिसके आकलन से बहुदर्शिता बढ़े। बुद्धि को तीव्रता प्राप्त हो। जिससे हृदय में एक प्रकार की संजीवनी-शक्ति की धारा बहने लगे। मनोवेग परिष्कृत हो जाये और आत्म-गौरव की उद्भावना होकर वह पराकाष्ठा पर पहुँच जाये। रसवती, ऊर्जस्विनी, परिमार्जित और तुली हुई भाषा में लिखे गये ग्रन्थ ही अच्छे साहित्य का भूषण माने जाते हैं।”<sup>७</sup> इन सात विचार बिन्दुओं से संस्कृत-शतक परम्परा का अन्तर्भाव ‘गीति-काव्य’ के अन्तर्गत होता है। गीति की परिभाषा निम्न प्रकार की जा सकती है—“कविता की मुख्य प्रेरणा आत्मानुभूति है और वही जब स्वाभाविक गतिमय और गेय-स्वर लहरी में प्रकट होती है तो “गीति” हो जाती है। गीतिकाव्य में कवि

अपनी अन्तरात्मा में प्रवेश करता है और बाह्यजगत् को अपने अन्तःकरण में ले जाकर उसे अपने भावों से रंजित करता है। आत्माभिव्यंजन सम्बन्धी कविता गीतिकाव्य में भी छोटे-छोटे गेय पदों में मधुर भावापन्न, आत्मनिवेदन से युक्त स्वाभाविक ही जान पड़ती है। .....कवि उसमें अपने अन्तर्तम को स्पष्टतया द्रष्टव्य कर देता है। वह अपने अनुभवों और भावनाओं से प्रेरित होकर उनकी भावात्मक अभिव्यक्ति कर देता है। साधारणतः गीत, व्यक्तिगत सीमा में तीव्र सुख-दुःखात्मक अनुभूति का वह शब्दरूप है, जो अपनी ध्वन्यात्मकता में गेय है।”

भावान्विति, रसान्विति एवं माधुर्य—तीनों संस्कृत गीतिकाव्य के मूल उपादान हैं। “भावप्रवणता” गीतिकाव्य का प्राण है। कवि की रागात्मक अनुभूति का उद्रेक ही “गीति” के रूप में परिवर्तित हो जाता है। “गीति” के माध्यम से कवि अपनी व्यष्टि रूप अनुभूति को सार्वजनीन एवं सार्वभौम बनाकर समष्टिरूप प्रदान करता है। उसका स्वयं का सुख-दुःख विश्व का सुख-दुःख बन जाता है। माधुर्य और प्रसाद का प्रसार संक्षिप्तीकरण एवं गेयात्मकता गीतिकाव्य के अभिन्न अंग हैं। भावान्विति के द्वारा रसान्विति को पुष्ट करना गीतिकाव्य की विशेषता है।

संस्कृत गीतिकाव्य दो शैली से लिखे गये हैं—प्रबन्ध शैली और मुक्तक शैली। स्तुतिशतकों की रचना प्रबन्ध शैली में तथा वैराग्य, नीति एवं शृङ्गार शतकों को मुक्तक—शैली के अन्तर्गत माना जा सकता है। अतः संस्कृत शतक परम्परा में गीतिकाव्य तथा मुक्तक काव्य की सभी विशेषताओं का समावेश हो जाता है। मुक्तक की परिभाषा निम्न प्रकार की जा सकती है—

मुक्तक उस पद्य को कहते हैं जो परतः निरपेक्ष रहता हुआ भी पूर्ण अर्थ की अभिव्यक्ति में सक्षम हो, चमत्कृति, गुम्फन एवं ध्वनि आदि विशेषताओं के कारण रमणीय हो, रसचर्वना में ब्रह्मानन्द सहोदर हो तथा रसानुभूति द्वारा हृदय को मुक्त बनाने में समर्थ हो।<sup>1</sup>

प्रस्तुत शतकों के परिचय में गीतिकाव्य का स्वरूप, मुक्तक काव्य की परम्परा, मूलतत्त्व और विशेषतायें तथा गीतिकाव्य में संस्कृत शतकों का स्थान आदि का विवेचन किया गया है। प्रत्येक शतक के उपलब्ध इतिहास के साथ-साथ काव्य-शास्त्रीय दृष्टिकोण से उसका अनुशीलन किया गया है। हृदयस्पर्शी, विशिष्ट पद्यों के उद्धरण भी प्रस्तुत किये गये हैं।

मान-मर्दन के लिए भक्ति से अधिक प्रभावशाली अन्य कोई साधन नहीं है। हृदय की विशुद्धि भक्ति के बिना हो ही नहीं सकती। भक्ति एक ऐसा रसायन है, जिसके उपयोग से रजस् और तमस् सत्त्व में परिणत हो सकते हैं। सांसारिक “काम” ही आराध्य की भक्ति में परिवर्तित होकर मुक्ति का साधक बन जाता है। भक्त-हृदय से निःसृत काव्य की धारा जब प्रवाहित होती है तो उसके सम्पर्क में आने वाले प्रत्येक व्यक्ति के कल्मष थुल जाते हैं, अहं विगलित हो उठता है और चेतना अपने स्वाभाविक वैभव को प्राप्त कर लेती है। संस्कृत शतकों के रूप में संस्कृत कवियों की जो निर्मल-भक्ति-धारा प्रस्फुटित हुई है, उन्हें स्तुति-शतक की संज्ञा दी जा सकती है।

भक्त के उद्देक में, भक्त-हृदय-कवि, अपने आराध्य की गुण-परिमा का गान करने लगते हैं—यही गान ‘स्तुति’ बन जाता है। प्रस्तुत परिचय में २१ स्तुति शतकों का विवेचन किया गया है। जो इस प्रकार है—

(१) जिनशतकम्—आचार्य समन्तभद्र, (२) सूर्यशतकम्—मयूरभट्ट, (३) चण्डीशतकम्—बाणभट्ट, (४) देवीशतकम्—आनन्दबर्धन, (५) गीतिशतकम्—सुन्दराचार्य, (६) जिनशतकम्—जम्बुगुरु, (७) आर्याशतकम्—मूककवि, (८) कटाक्षशतकम्—मूककवि, (९) मन्दस्मितशतकम्—मूककवि, (१०) स्तुतिशतकम्—मूककवि, (११) पादारविन्दशतकम्—मूककवि, (१२) वृन्दावनशतकम्—अज्ञात, (१३) ईश्वरशतकम्—अवतारकवि, (१४) रामशतकम्—सोमेश्वर, (१५) रामशतकम्—केशव, (१६) शिवार्याशतकम्—महाराष्ट्रीकवि मयूर, (१७) पद्मनाभशतकम्—श्रीस्वाति तिरुनाल रामवर्मा, (१८) खड्गशतकम्—अज्ञात, (१९) सारस्वतशतकम्—श्रीजीव-देवशर्मा, (२०) शोकश्लोकशतकम्—बदरीनाथ झा, (२१) निरञ्जनशतकम्—आचार्य विद्यासागर।

परिचय में वैराग्य एवं नीति शतकों की भी विवेचना की गई है। संस्कृत वैराग्यशतकों में वैराग्य की ऐसी निर्भरिणी प्रवाहित हुई है कि सहृदय पाठक ‘स्व-रस’ के पान की ओर स्वतः उन्मुख हो उठता है। यहाँ आठ वैराग्यशतकों की विवेचना की गई है, उनके नाम इस प्रकार हैं—

(१) समाधिशतकम्—आचार्य पूज्यपाद, (२) वैराग्यशतकम्—भर्तृहरि, (३) वैराग्यशतकम्—पद्मानन्द, (४) शान्तिशतकम्—शिल्हनमिश्र, (५) सम्यक्त्वसारशतकम्—आचार्य ज्ञानसागर, (६) श्रमणशतकम्—आचार्य विद्यासागर, (७) भावनाशतकम्—आचार्य विद्यासागर, (८) परीषहृजयशतकम्—आचार्य विद्यासागर।

उत्तर-भाग में १२ नीतिशतकों का परिचय दिया गया है :—(१) नीतिशतकम्—भर्तृहरि, (२) भल्लशतकम्—भल्लट, (३) चाणक्यशतकम्—अज्ञात, (४) अन्यापदेशशतकम्—नीलकण्ठीक्षित, (५) अन्यापदेशशतकम्—मधुसूदन, (६) उपदेशशतकम्—गुमानकवि, (७) अन्योक्तिशतकम्—भट्टवीरेश्वर, (८) दृष्टान्तकलिकाशतकम्—कुसुमदेव, (९) सभारुञ्जशतकम्—नीलकण्ठीक्षित (१०) ब्रह्मचर्यशतकम्—ब्र० मेधाव्रत, (११) गुरुकुलशतकम्—मेधाव्रताचार्य, (१२) नीतिशतकम्—के० भुजबलीशास्त्री, (१३) सुनीतिशतकम्—आचार्य विद्यासागर।

संस्कृत के शृंगारशतक अपने रसमाधुर्य एवं रमणीयता के लिए प्रख्यात हैं। लौकिक जगत् में शृंगार रजस्-प्रधान होता है, लेकिन काव्य जगत् में आकर वही शृंगार, सत्त्व-प्रधान हो जाता है। क्योंकि सत्त्व का उद्देक हुए बिना रसानुभूति ही ही नहीं सकती। संस्कृत शतकारों ने ऐसी रसमाधुरी बिखेरी है कि उसमें स्नपित हो, सहृदय पाठक अपूर्व आल्लाह एवं रमणीयता का अनुभव करने लगता है। अध्ययन में ९ शृंगार-शतकों की भी विवेचना की गई है—

(१) अमरुकशतकम्—अमरुक, (२) शृंगारशतकम्—भर्तृहरि, (३) शृंगारशतकम्—जनादंन भट्ट, (४) शृंगारशतकम्—नरहरि, (५) सुन्दरीशतकम्—

उत्प्रेक्षावल्लभ, (६) भावशतकम्—नागराज, (७) काव्यभूषणशतकम्—कृष्ण-  
वल्लभ, (८) आश्लेषाशतकम्—नारायण पण्डित, (९) अधरशतकम्—नीलकण्ठ-  
दीक्षित ।

### आचार्य विद्यासागर

आचार्य विद्यासागर के रूप में एक तपस्वी संत—कवि के दर्शन होते हैं। एक ऐसा कवि, जिसका समग्र जीवन ही काव्यमय हो गया है। एक ऐसा योगी, जिसके लिए काव्य भी योगसाधना का एक अंग बन गया है। ऐसा प्रतीत होता है कि आचार्य विद्यासागर के रूप में 'शान्त-रस' ही मूर्तिमान हो उठा है। एक ऐसे तपस्वी-कवि की लेखनी से प्रसूत शान्त-रस का सौन्दर्य कितना.....!! चमत्कारी.....!!! हो सकता है—इसका मात्र अनुभव ही किया जा सकता है। वस्तुतः जब काव्य ही तपस्या बन जाती है और तपस्या ही काव्य, तब काव्य भी तपस्यात्मक हो जाता है और तपस्या भी काव्यात्मक। इस तपस्यात्मक-काव्य अथवा काव्यात्मक तपस्या से जो कुछ भी निष्पन्न होता है, वह अद्भुत रूप से रमणीय भी होता है और तेजस्वी भी। बालक विद्याधर.....आचार्य विद्यासागर बनने तक की यात्रा-कथा, अत्यन्त रोचक तथा प्रेरक भी है। इस कलियुग में भी सतयुग का अवतरण हो सकता है, यह आचार्य विद्यासागर ने प्रत्यक्ष करके दिखा दिया।

### दार्शनिक काव्य

आचार्यश्री के शतकों का कथ्य-अमूर्त है। अमूर्त विषयों पर काव्य-रचना करना ही अपने आप में दुष्कर कार्य है। आपके काव्य को "दार्शनिक-काव्य" की संज्ञा दी जा सकती है। आप के द्वारा रचित पाँचों शतक दर्शन के विषयों पर लिखे हुए साहित्य के दुर्लभ मोती हैं जो सहज ही कण्ठहार बन जाता है। प्रथम—'श्रमणशतकम्' में श्रमणों की चर्या एवं विशेषताओं का काव्यात्मक वर्णन है। आर्या-छन्द में निबद्ध यह शतक यमकमय है। दूसरा 'भावनाशतकम्' भी आर्या-छन्द में निबद्ध है। यह भी यमक-काव्य का उदाहरण है। इसमें चित्रालंकार (मुरज बन्ध) का भी प्रयोग किया गया है। तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध जिन भावनाओं द्वारा होता है, उनका अत्यन्त रुचिर वर्णन इस शतक में किया गया है। तीसरा 'निरञ्जनशतकम्' द्रुतविलम्बित-छन्द में निबद्ध है। इसमें भगवान की अत्यन्त हृदय-स्पर्शी स्तुति की गई है। पदों का लालित्य एवं भावों की सुकुमारता इस शतक का वैशिष्ट्य है। चौथे 'परीषहजयशतकम्' में दिग्म्बर जैन मुनियों के २२ परीषहों का हृदयस्पर्शी वर्णन है। द्रुतविलम्बित-छन्द में निबद्ध यह रचना मुनियों के लिए संजीवनी सद्दृश्य है। पदों की रमणीयता एवं सारल्य इस शतक की विशेषता है। पाँचवां 'सुनीतिशतकम्' उपजाति-छन्द में निबद्ध अत्यन्त मनोहारी नीतिकाव्य है। कवि ने अत्यन्त सरस, सरल एवं सुबोध-शैली में एक से एक सुन्दर नीतियों का गुम्फन किया है। प्रस्तुत शतक की कई सूक्तियाँ/नीतियाँ पूर्णरूप से मौलिक हैं, अतः उनका चित्त पर विशेष प्रभाव पड़ता है। भर्तृहरि के नीतिशतकम् के समान यह शतक भी विद्वद्जनों में लोकप्रिय होगा—इसमें कोई सन्देह नहीं।

## शान्त रस की निर्भरणी

आचार्यश्री के मभी शतक "शान्त-रस" पर आधारित हैं। भरतमुनि ने 'शान्त-रस' को ही सब रसों का मूल माना है—

स्वं स्वं निमित्तमासाद्य शान्तादभावः प्रवर्तते ।

पुनर्निमित्तापाये च शान्त एवोपलीयते ॥ [नाट्यशास्त्र, ६/८७]

आचार्यश्री ने 'सुनीतिशतकम्' में शृङ्गार की एक मौलिक व्युत्पत्तिकी है—

शृङ्गार एवैकरसो रसेषु, न ज्ञाततत्त्वाः कवयोभणन्ति ।

अध्यात्मशृङ्गारिवति रातिशान्तः शृङ्गार एवेति ममाशयोऽस्ति ॥

(सुनीतिशतकम्-२२)

'योऽध्यात्मशृङ्गारं ऋच्छति, राति ददाति स एव शृङ्गारः ।' इस प्रकार शान्त को ही शृङ्गार कहा जा सकता है। आचार्यश्री के शतकों में 'शान्त-रस' का ऐसा परिपाक हुआ है कि जो भी सहृदय उनके काव्य में अवगाहन करता है, रससिक्त हो, आध्यात्मिक-आनन्द की मस्ती में डूबने लगता है। शान्त-रस का ऐसा चमत्कार कोई शान्त तपस्वी ही दिखला सकता है।

शान्त-रस में माधुर्य का प्रसार स्वभावतः अधिक होता है। अतः आचार्यश्री का काव्य माधुर्य-गुण से विभूषित है। प्रसाद का प्रसार तो सभी शतकों में है। समधुर पदों की योजना से आपका काव्य अतिशय रूप से चमत्कारी हो उठा है। आपके शतकों में रसास्वादत करने पर दण्डी की निम्न उक्ति चरितार्थ सी प्रतीत होती है—

मधुरं रसवद् वाचि वस्तुन्यपि रसः स्थितः ।

येन माद्यन्ति धीमन्तो मधुनेव मधुव्रताः ॥ (काव्यादर्श-१/५१)

आपके काव्य के सन्दर्भ में भारवि की निम्न उक्ति भी कही जा सकती है—

'प्रवर्तते नाकृतपुण्यकर्मणां प्रसन्नगम्भीरपदा सरस्वती ।'

अग्निपुराणकार ने गुणों की महत्ता निम्न शब्दों में प्रदर्शित की है—

अलंकृतमपि प्रीत्यं न काव्यं निर्गुणं भवेत् ।

वपुष्यललिते स्त्रीणां हारो भारायते परम् (३४६/१)

'रीति' अर्थात् पदसंघटना का सम्बन्ध, शब्द अर्थ से है। इसलिए वह काव्य से सम्बद्ध है। परन्तु फिर भी जिस प्रकार सुन्दर संस्थान मनुष्य के बाह्य व्यक्तित्व की शोभा बढ़ाता हुआ, वास्तव में उसकी आत्मा का ही उपकार करता है इसी प्रकार रीति भी अन्ततः काव्य की आत्मा का ही उपकार करती है। (ध्वन्यालोक—भूमिका, पृ० १६) आचार्यश्री के श्रमणशतकम् एवं भावनाशतकम् में पांचाली रीति का प्रयोग हुआ है तथा निरंजनशतकम्, परीषहजयशतकम् एवं सुनीतिशतकम् वैदर्भीनीति के उदाहरण हैं। वय के अनुमार आचार्यश्री के काव्य में क्रमशः सारत्य का भी समावेश होता जा रहा है। उनकी आद्यकृतियां कुछ कठिन हैं लेकिन परवर्ती रचनायें अत्यन्त सरल एवं सुबोध हैं। एक बार आचार्यश्री ने स्वयं कहा था—“प्रौढ़ता के साथ सारत्य स्वयमेव आ जाता है।”

## छन्द और अलंकार

अलंकारों की स्थिति आभूषणों की सी है, जो अनित्यरूप से शरीर की शोभा

बढ़ाते हुए अन्ततः आत्मा के सौन्दर्य में ही वृद्धि करते हैं। क्योंकि शरीर सौन्दर्य आत्मा के बिना सम्भव नहीं है—शव के लिए सभी आभूषण व्यर्थ होते हैं। आचार्य वामन ने तो 'सौन्दर्यमलंकारः' कहकर अलंकार को सौन्दर्य का पर्यायवाची ही बना दिया है। भामह की दृष्टि में 'अलंकार' काव्य की रमणीयता के आवश्यक उपादान हैं—

रूपकादिरलङ्कारस्तस्यान्यैर्बहुधोदितः ।

न कान्तमपि निर्भूषं विभाति वनिताननम् ॥ (काव्यालङ्कार, १/१३)

आचार्यश्री के शतकों में 'यमक' का प्रयोग सर्वाधिक हुआ है। ऐसा प्रतीत होता है कि जिस प्रकार "उपमा कालिदासस्य" की उक्ति प्रसिद्ध है, उसी प्रकार "यमक विद्यासागरस्य" का आभाणक भी प्रसिद्ध हो जायेगा। यमक का बाहुल्य होने पर भी रस-व्युच्छित्ति नहीं हुई है—यह आपकी बहुत बड़ी सफलता है। यमक के प्रयोग से काव्य में अनुप्रास की मनोहरता भी स्वयमेव परिलक्षित होने लगी है।

आपके शतकों में अनेक प्रकार के अलंकारों का प्रयोग हुआ है। 'दृष्टान्त' के प्रयोग में आप विशेयरूप से सफल हैं। एक से एक बढ़कर नवीन परिकल्पनाओं से युक्त 'दृष्टान्त' का चमत्कार आपके काव्य को अनिर्वचनीय कमनीयता से युक्त कर देता है।

'कविता तथा छन्द के बीच बड़ा घनिष्ट सम्बन्ध है। कविता हमारे प्राणों का संगीत है, छन्द हृत्कम्पन, कविता का स्वभाव ही छन्द में दोलायमान होना है।' (पल्लव, पृ. ३३) कवि की प्रतिभा का निर्णय उपयुक्त छन्द के चुनाव और उसके स्वाभाविक निर्वाह में हो जाता है। छन्द का सम्बन्ध जीवन की मनोवृत्तियों से है और उन्हीं का स्वाभाविक ज्ञान कवि को होता है।

आचार्यश्री के शतकों में लघुकाय छन्दों का प्रयोग हुआ है। शान्तरस के परिपाक के लिए लघु-कलेवर-छन्द अत्यन्त उपयोगी है। "आर्या" तो आपकी वश्या (सेविका) की भांति भावों का अनुसरण करती चलती है। द्रुतविलम्बित के प्रयोग में भी आपका नैपुण्य दर्शनीय है। उपजाति का प्रयोग भी उतनी ही सफलता के साथ हुआ है। अतः रसके अनुरूप छन्दों का चुनाव कर, कवि ने अपनी विशिष्ट प्रतिभा का परिचय दिया है।

आचार्य विद्यासागर जी के शतकों से सुभाषितों के आस्वादन का रस तो प्राप्त होता ही है, योगी के सान्निध्य का लाभ भी मिलता है। संन्यासी कवि के काव्य में अवगाहन करने पर, रसास्वादन के साथ-साथ सत्सङ्गति का फल भी अनायास ही प्राप्त होता जाता है। □

सन्दर्भः

१. हिन्दी काव्य-शास्त्र का इतिहास, पृष्ठ-३३०
२. सूर साहित्य, पृष्ठ-१७६
३. क्षणदा, पृष्ठ-९७
४. भारतीय काव्य शास्त्र की परम्परा, पृष्ठ-५६२
५. वही, पृष्ठ-५३४
६. क्षणदा, पृष्ठ-११९
७. हिन्दी काव्य-शास्त्र का इतिहास, पृष्ठ-२४२
८. गीतिकाव्य का विकास, पृष्ठ-२२
९. संस्कृत गीति काव्य का विकास, पृष्ठ-१२०



## तेरापंथ के आधुनिक राजस्थानी संत-साहित्यकार (३)

□ मुनि सुखलाल

तेरापंथ का आधुनिक काल आचार्यश्री तुलसी के युग से शुरू होता है। आचार्यश्री स्वयं तो एक समर्थ साहित्यकार हैं ही, पर उन्होंने अपने पूरे संघ को जो साहित्य-चेतना प्रदान की है वह अद्भुत और अनुपम है। इसीलिए इस युग में राजस्थानी भाषा में लिखने वालों, संतों-साधवियों की बाढ़-सी आ जाती है। युवाचार्य श्री महाप्रज्ञजी एवं निकाय-प्रमुख मुनिश्री बुद्धमलजी इन सब में अग्रणी कहे जा सकते हैं। युवाचार्यश्री ने राजस्थानी में जो स्फुट साहित्य लिखा उसकी अपनी एक मौलिकता है। 'इवास और विश्वास' में संकलित उनकी कुछ कविताओं में एक कविता है 'फूल लारै कांटो', उसके शिल्प पर जरा ध्यान केन्द्रित करें—

दिल तो है, पण दर्द कोनी  
दर्द कोनी जद ही दिल है  
नहीं तो आज ताई रहतो ही कोनी  
कदेई दूट ज्यातो

इसी लहजे में वे आगे कहते हैं—  
बडो सीधो है, पण कनै सत्ता कोनी,  
सत्ता कोनी जद ही सीधो है,  
नहीं तो आज ताई रेतो ही कोनी,  
पेली ही सिधाई पूरी हो जाती।

इस तरह मृदु एवं शिष्ट व्यंग्य से परिपूर्ण उनकी ऐसी अनेक रचनाएं हैं। मुनिश्री बुद्धमलजी ने अपने आपको मातृभाषा से बहुत गहराई से जोड़ा है। अपनी 'उणियारो' पुस्तक में वे लिखते हैं—

उणियारै में और घणा उणियारा है,  
ऊपर एक अभितर न्यारा-न्यारा है,  
आंख्यां-देखी रो विश्वास निभै कोनी,  
देख्यै में अणदेख्या घणा किनारा है।

सचमुच उणियारो राजस्थानी काव्य-साहित्य का एक दुर्लभ हस्ताक्षर है।

इसी तरह आपकी 'मिणकला' तथा 'पगतिया' कृतियां भी अनुभूतियों के अकूत खजाने हैं। राजस्थानी काव्य-कथ्य का प्रमुख माध्यम दोहा-विधा इन दोनों पुस्तकों की भावधारा का सुलभा हुआ तानाबाना है। सचमुच थोड़े में बहुत कह देने वाली ज्यों

नाविक के तीर और घाव करे गम्भीर, की उक्ति की सार्थकता का दर्शन मुनिश्री के काव्यकार में स्पष्टतः देखा-परखा जा सकता है। यहां केवल एक दोहे को वानगी के रूप में प्रस्तुत किया जा रहा है—

मिनखां रे तो तिणखला, है कचरो दुख रास,  
पंख्यां रे बै ही बणै, मा' लो सुख आवास।

साधारणतया गीतों में उपदेश-तत्त्व ज्यादा रहता है। भावुक तथा श्रद्धाशील लोगों पर उसका प्रभाव भी होता है, पर मुनिश्री बुद्धमलजी अपने गीतों में कोरा उपदेश नहीं बांटते अपितु एक जीवन-संदेश देते हैं, जो उनकी जीवंत अनुभूति से उपजा हुआ होता है। 'जागण रो हेलो' के १०८ गीतों के एक-एक पद्य में इस कथन की की सन्चाई की कसौटी की जा सकती है। उसी का एक गीत यहां उद्धृत किया जा रहा है—

\*संभल कर चालजे रे, है टेढो जग व्यवहार,  
ढील मत घालजे रे. है पल रो मोल अपार,  
बीती बात बिसार दे रे भाई ! आगै री संभार ॥ध्रुव०॥  
ऊंधी चलगत मनतणी रे, पहली इणनै मार,  
एक ही मार्यां सहु मरै रे भाई ! इन्द्र्यां तणा विकार।  
गुण-अवगुण भेला मित्या रे, रयो न तनिक विचार,  
फटक छाज ज्यूं धान नै रे भाई ! पटक कांकरा बार।  
अंबली गति मत धारजे रे, संवलाई में सार,  
लाज मानखै री सभै रे भाई ! बधै आपसी प्यार।  
चिता रा घेरा घणा रे, घर रो घिरतो भार,  
कोई न बाधक बणा सकै रे भाई ! जो तूं हुवै अविकार।  
ढलतो जावै आउखो रे, गल-गल तन हुवै गार,  
बुद्ध वखत पर जागज्या रे भाई ! सफल बणा अवतार।

इस तरह मुनिश्री बुद्धमलजी का राजस्थानी साहित्य की अभिवृद्धि में विशिष्ट योगदान है।

मुनिश्री चौथमलजी, मुनिश्री कानमलजी तथा मुनिश्री गणेशमलजी का नाम भी तेरापंथ के संत-साहित्यकारों में आदर से लिया जाता है। मुनिश्री चौथमलजी मूल में एक महान् वैयाकरण थे, जिन्होंने 'भिक्षु शब्दानुशासन' महाव्याकरण की रचना की थी। अपने जमाने में आपने तेरापंथ धर्म शासन की ख्यात लिखने का कौशलपूर्ण कार्य भी किया था, जिसकी इतिहास लेखन की दृष्टि से अपनी एक महत्ता है। आपका राजस्थानी में चन्द्रसेन—चन्द्रावती का आख्यान भी काफी जनप्रिय रहा है।

मुनिश्री कानमलजी की प्रमुख रचनाएं हैं—पायलिप्त, मयरावती, जा सा सा सा, चन्द्रशेखर, डोड बेटो, घन्नाजाट आदि-आदि।

\* हरी गुण गापले रे

मुनिश्री गणेशमलजी ने दोहा विधा में विपुल साहित्य लिखा है। मुख्य रूप से वह हिन्दी में है पर राजस्थानी में भी आपके सूझबूझ के सोरठे, मुहावरा रा दोहा, कर्म बावनी, व्याख्यान वाटिका, विवेक की बातें, जिन वन्दना आदि कृतियां प्रमुख हैं।

मुनिश्री डूंगरमलजी तथा मुनिश्री जंवरीमलजी धर्मसंघ के ऐसे तपे हुए संत हैं जिनकी आचार-निष्ठा उनके साहित्य में भी प्रतिविम्बित होती है। मुनिश्री डूंगरमलजी की प्रमुख रचना है—सती सुर सुन्दरी।

मुनिश्री जंवरीमलजी की प्रमुख रचनाएं इस प्रकार हैं—अनुभव प्रबन्ध, प्रद्युम्न-कुमार, राजहंस आख्यान, पतितपावन, चन्द्रचकोरी, मदनरेखा, राजहंस, शिवशेखर, चण्डकौशिक, राजीमती आदि-आदि।

साहित्य की इस धारा को एक सुलभ गति देने वाले इस युग के संतों में मुनिश्री जशकरणजी, मुनिश्री दुलीचन्दजी, मुनिश्री छत्रमलजी, मुनिश्री पूनमचन्दजी का नाम भी बड़े आदर के साथ लिया जा सकता है। मुनिश्री जशकरणजी की कृतियां सर्ववोधा हैं।

मुानश्री दुलीचन्दजी के पास प्रकृति-प्रदत्त सुस्वर-कण्ठ है। अतः जब वे अपने गीतों को तन्मय होकर गाते हैं तो श्रोता उनके साथ थिरकने लगते हैं। मुनिश्री ने कुछ कथा-गीत भी लिखे हैं जो लोगों पर अपनी एक छाप छोड़ते हैं। आपके गीतों कविताओं तथा मुक्तकों के कुछ संग्रह भी प्रकाशित हुए हैं, उनमें आत्म बावनी, अध्यात्म गीतांजली, मायली बात, अंताक्षरी सोपान आदि प्रमुख हैं।

सौम्य साहित्यकार मुनिश्री छत्रमलजी ने अपनी लेखनी के अनेक दिशाओं में अप्रतिबद्ध रूप से चलने के आग्रह को बड़ी सहानुभूति से स्वीकारा है। अनुभूति के पैनेपन को इनके काव्य में बहुत सरलता से पहचाना जा सकता है। आपकी अनेक पुस्तकें प्रकाश में आई हैं जिनमें अमृत रा गुटका, छत्र-दोहावली, जय सौरभ, मंजुला, रत्नसेन रत्नावती, पुष्पवती आदि प्रमुख हैं।

जनप्रतिबोधन प्रवीण, यायावर मुनिश्री पूनमचन्दजी का विपुल आख्यान साहित्य उपलब्ध है। चूँकि साधारण जनता के मन में प्रवेश के लिए आख्यायिकाओं का अपना एक महत्त्वपूर्ण स्थान होता है अतः इस विधा में आपने ८१ आख्यान लिखे हैं। वीर अम्बड, पन्द्रह लाख पर पानी, सुधा सिन्धु, रत्नसेन, महाभारत, द्रौपदी का चरित्र आदि प्रमुख हैं। आपने कुछ सुन्दर एकांकी भी लिखे हैं। उनमें दहेज एक अभिशाप, मियांभिट्टू, कालचक्र, उसके बाद और उसके बाद आदि प्रमुख हैं।

आधुनिक युग के साहित्यकारों की दूसरी पंक्ति में मुनिश्री नवरत्नमलजी, मुनिश्री धनराजजी, मुनिश्री हनुमानमलजी, मुनिश्री मानमलजी, मुनिश्री अगरचन्दजी, मुनिश्री बालचन्दजी का नाम प्रमुख रूप से आता है। इनकी नवसरोहार, चंचलकुमारी, सोहनरानी, भाविनी, धर्मराज, सीधे-सादे भजन, अनहद-नाद आदि रचनाएं प्रमुख हैं।

इस युग की तीसरी पीढ़ी में मुनिश्री चम्पालालजी (सरदार) मुनिश्री सागरमलजी 'श्रमण', मुनिश्री कन्हैयालालजी, मुनिश्री सुमेरमलजी लाडनू, मुनिश्री सुमेरमलजी 'सुमन', मुनिश्री राजकरणजी, मुनिश्री मगनलालजी 'प्रमोद' मुनिश्री

मांगीलालजी 'मुकुल', मुनिश्री मोहनलालजी 'सुजान', मुनिश्री नेमीचन्दजी, मुनिश्री शुभकरणी, मुनिश्री ताराचन्दजी, मुनिश्री शोभालालजी, मुनिश्री धर्मचन्दजी, मुनिश्री मधुकरजी, मुनिश्री सुखलाल, मुनिश्री वत्सराजजी, मुनिश्री राकेशकुमारजी, मुनिश्री विजयराजजी, मुनिश्री चौथमलजी, मुनिश्री मोहनलालजी, मुनिश्री फतेहचन्दजी 'पंकज', मुनिश्री सम्पतमलजी, मुनिश्री गुलाबचन्दजी, मुनिश्री मोहनलालजी शार्दूल आदि सन्त-साहित्यकारों के नाम गिनाये जा सकते हैं। आख्यान, भजन, परिसंवाद मुक्तक आदि विविध विधाओं में इनकी रचनाएं उपलब्ध होती हैं।

इनमें मुनिश्री सागरमलजी, मुनिश्री कन्हैयालालजी, मुनिश्री मधुकरजी, मुनि सुखलाल, मुनिश्री वत्सराजजी, मुनिश्री मोहनलालजी आमेट आदि की काव्यकार के रूप में भी अपनी एक पहचान हैं।

मुनिश्री सागरमलजी के भक्ति गीत सर्वत्र प्रसिद्ध हैं। चुटीली भाषा के साथ-साथ आपका काव्य शिल्प भी काफी निखरा हुआ है।

मुनिश्री कन्हैयालालजी लोकश्चि के साहित्यकार हैं। आपकी अनेक पुस्तकों की अनेक आवृत्तियां प्रकाशित हो चुकी हैं। विकसित कलियां, बून्दों का मेला, तीन मित्र, आषाढ़-मुनि, कुसुमलता, विमलचन्द, व्याख्यान मुक्तावली, स्वाती रो बूदां, दिव्य-दोहावली आदि रचनाएं प्रमुख हैं।

मधुर संगायक मुनिश्री मधुकरजी के गीत भी काफी लोकप्रिय हैं। आपकी गूजन, हिवड रो हेलो, दिवलां कद जलसी आदि पुस्तकों की कई आवृत्तियां छप चुकी हैं। वर्तमान में तेरापंथ धर्म संघ की ख्यात लिखने का दायित्व भी आप पर है आपने तेरापन्थ और मर्यादा तथा मगनचरित का सम्पादन भी किया है। इसके अतिरिक्त आपने जयाचार्य की कृतियों की समाकलना भी की है।

लेखक स्वयं भी राजस्थानी भाषा का एक नम्र सेवक है।

कविताओं के कुछ अंश यहां प्रस्तुत हैं :

ठहरो काचा फल मत तोडो,  
पत्थर फैंक-फैंक बेमतलब मत औरों रा माथा फोड़ो,  
खून-पसीनो सींच-सींच कर माली इं दरखत ने पाल्यो,  
अपणो जीवन गाल अमोलो, इं विरवै नै सदा रूखाल्यो,  
आज आम जद पाकण लाग्या, मत खींचो भाणो पुरस्योडो ॥

एक और पद्य —

तूं अपणो पुरुसार्थ जगालै दुनियां अपणो आप भुकेली,  
बादल घर-घर पाणी बांटे, पण नदियां रो काम करारो,  
एक भूपाटे में ले ज्यावै ए पाणी सारी दुनियां रो,  
बणा बांध मजबूत इसो तूं नदियां अपणै आप रुकेली ॥

“गीतों का गुलदस्ता” तथा “निर्माण के बीज मे” मेरे अनेक राजस्थानी गीत एवं परिसंवाद संकलित हैं। मैंने भवदेव—नांगला पर एक लूर भी लिखी है।

मुनिश्री वत्सराजजी शब्द-संरचना के साथ-साथ भाव—विन्यास के भी पारगामी मनीषी संत हैं। उनकी कविताओं के कुछ बोल यहां उद्धृत किए जा रहे हैं।

दिल रो दरियो तो सूख गयो बाणी रा बाला चालै है ।  
सडकां तो सीधी आज बणी, पण बण्या आदमी टेढा है,  
कंकर तो जमग्या सडकां पर, पण मिनाखां में पड्या बखेडा है,  
जो भूल्यौ भटक्यो आवै तो सडकां तो पार पुगावै है,  
पण करै भरोसो मिनखां रो काली धार डुबावै है,  
ऊपर तो डीगा हाकै है, नीचे गोटाला चालै है ॥  
इसी प्रकार अपनी एक अन्य रचना में वे कहते हैं—

अब धर्म रह्यो है बातां में,  
घट में तो ज्वाला ममके है,  
पण माला राखै हाथां में,  
पढ लिख कर कई वकील बण्या,  
दुनियां नै न्याव बतावै है,  
बे गिटे जीवती माखी नै,  
जद नोट सामने आवै है,  
आख्यां नै मींच अंधारो करदे.  
मिनख चानणी रातां में ।

मुनिश्री मोहनलालजी भी गहरी अनुभूति को थोड़े शब्दों में व्यक्त करने वाले एक सिद्धहस्त और क्रांत द्रष्टा कवि हैं। अपनी पुस्तक “तथ और कथ” में वे कहते हैं।

बडपण है कोयलै रो,  
कै जको/कालाम नै आप ओढ,  
हीरै नै दियो,  
भोम रै हियै रो उजास,  
○ ○ ○  
मकराणै स्यूँ इधको उजातो है,  
गारै र गोबर स्यूँ लिप्यो-पुत्यो घर,  
जठै बिना विशेषण रो आदमी रेवै है ॥  
○ ○ ○

आज रै पुतनिक,  
लारै छोड दी है, आगम जुग री देव कहाण्यां,  
आज रै मिनख,  
करदी है साची पुराणां री असुर-कथावां ।

इनके बाद नवोदित संत-साहित्यकारों की एक पंक्ति और आये आती है। इसमें मुनिश्री रोशनलालजी की अमरकुमार, सुरसुन्दरी, मुनिश्री कमलकुमारजी का कविता संग्रह मुनिश्री संजय कुमारजी का “जाग रे जवान”, मुनिश्री मुनिसुव्रतकुमारजी का ‘गुण घुंघरू’, मुनिश्री मोहजीत कुमारजी की “बूंद में बादल” आदि पुस्तकें प्रमुख हैं। इस पंक्ति में मुनिश्री विजयकुमारजी ने भी अपनी एक अलग पहचान बनाई है। ये न केवल स्वयं मधुर संगायक हैं अपितु इनकी मधु कलश, स्वर माधुरी, मधु-माया, सुधा

घूंट आदि पुस्तकों की अनेक आवृत्तियां प्रकाशित हो चुकी है ।

यह एक संक्षिप्त जानकारी है । ऐसे तो अनेक संत हैं जो कुछ न कुछ लिखते ही रहते हैं । पर मुझे जो कुछ सामग्री उपलब्ध हुई उसे ही यहां अंकित किया गया है ।

## दयानी ढाल



जीव हींसया छे अतीबुरी तीण माही ओगण अनेक  
दया धर्म मे गुण घणां ते सुणज्यो आण ववेक ॥१॥  
एआकणी दयाभगोती छे सुषदाइ ते मुग्गपुरीनी साइजी  
साठनाम दया रा कह्या जिनदसमांअगेरे माहीजी दया ॥२॥  
पुजनीक नाम दया रो भगोती मंगलीक नाम छे नीकोजी  
जेभवी जीव दया ने सर्णे त्याने छे मुग्गन जीकोजी ॥३॥  
त्रीवीधे २ छ कायनहणवी या दया कही जिन रायोजी  
दया भगोती रा गुण छे अनंता ते पुरा केम कहायोजी दया ॥४॥  
त्रीवीधे २ छ काय जीवा ने कोइ भेन उपजावे तामोजी  
यो अभेदान कहा भावंता पणी दयारो छे नामोजी दया ॥५॥  
त्रीवीधे २ छ काय मारंण कोइ त्याग करे मन सुधो जी  
पुरीदया भगवंते भाषी तीणरा पापरा बारणारुध्याजी दया ॥६॥  
कोइ त्याग कीया वीना हंसया टाले तो कर्म निर्ज रा थावेजी  
पणी हंसयाटाल सुभ जोगवर्ते छे तयारे पुनरा ठाठ वंधायोजी दया ॥७॥  
इण दयासुपाप करम मीट जावे वले कर्म करे चक चुरोजी  
या दोय गुण मे अनंतागुण आयातेपालेछे वीरला सुरोजी दया ॥८॥  
या इज दया महाव्रता पहलो तीणमे दया सर्वयाइ जी  
पुरी दया साधुजी पाले बाकी दया रही नइ कांइ जी दया ॥९॥  
छकायनेह णे हणावे नाही वले हणंतानेनही सरावे जी  
इमडी दयानी रंतर पाले तयारे तुलबीजी कृण आवेजी दया ॥१०॥  
याइज दया चोखा चीत पाले केवलीयारी छे गादी जी  
याइज दया चोपेसभामेपरूपेती णनेवीर कह्यो न्यायवादीजी दया ॥११॥  
या इज दया केवलीया पाली मन परजे अबधग्नानी जी  
वलेमतग्नाने सुर्तग्नानी याइ दया मनमानी जी दया ॥१२॥  
याइज दया लवध धारचा पाली याइज पुर्वधध्यानी जी  
संका हुवेतो नीसंकसुजोवो सुन्नमेवात नही बानीजी दया ॥१३॥  
देस थकी श्रावक पाले तीणने पंण साधवषांणेजी  
श्रावक हुंए हंसया करे गर वेठा तीन मे धर्म नही जाणेजी दया ॥१४॥  
जिन मार्ग रीनीम दया पर षोजी हुवे ते पावेजी  
पीण हंसया माही धर्म हुवे तो जल मथीया घी आवेजी दया ॥१५॥  
प्रांणभूतजीव नइ सतावे तनरी धातन कर्णीलगारोजी  
तीन काल तीर्थकर की वाणी आचारंग चौथो ध्यनंमभारोजी दया ॥१६॥

## पुस्तक समीक्षा

१. “राजस्थानी शब्द सम्पदा”—सम्पादक, मूलचंद्र ‘प्राणेश’ प्रकाशक, राष्ट्रभाषा हिन्दी प्रचार समिति, श्रीडूंगरगढ़ (चूरू), प्रथम संस्करण-१९९०, पृष्ठ-१४८, मूल्य-५०/-रुपये ।

श्रीडूंगरगढ़ समिति ने कुछ समय पूर्व ‘प्राचीन शिलालेखों में राजस्थानी भाषा’ पुस्तक प्रकाशित की थी तो यह घोषणा की थी कि ‘हिन्दी-राजस्थानी भाषा के समन्वित स्वरूप पर विश्लेषण हेतु वह शीघ्र ही एक नया प्रकाशन करेगी । ‘प्रकाशकीय’ के अनुसार “राजस्थानी शब्द सम्पदा” उसी घोषणा की क्रियान्विति है । इसमें विलुप्त होती जा रही राजस्थानी भाषा की प्राचीन शब्द सम्पदा को डिगल-पिंगल के प्राचीन ग्रंथों से उद्धरण देकर बहुश्रुत और मान्य रूप में प्रस्तुत किया गया है और उसके अनुचित अर्थों का तर्क संगत ढंग से परिष्कार भी किया गया है ।

भाई मूलचन्द्र ‘प्राणेश’ राजस्थानी भाषा को समर्पित व्यक्ति हैं । राजस्थानी ग्रंथों के संपादन में, क्षेत्रीय जानकारी के अभाव में होने वाली अनर्थकारी भूलों की ओर वे विद्वज्जनों का बराबर ध्यानाकर्षण करते रहे हैं । प्रस्तुत ग्रन्थ के ‘सम्पादकीय’ में भी उन्होंने ‘राजरूपक’, ‘ढोलामारू रा दूहा’, ‘डिगल में वीर रस’ और ‘नाथसिद्धों की वानियां’ जैसे ग्रन्थों के संपादन में रही कतिपय भूलों की ओर पाठकों का ध्यान खींचा है । उल्लेखनीय है कि ये सभी ग्रन्थ पं० रामकर्ण आसोपा, ठा० रामसिंह, प्रो० सूर्यशंकर पारीक, नरोत्तमदास स्वामी, डा० मोतीलाल मेनारिया तथा डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी जैसे वरिष्ठ विद्वानों द्वारा संपादित हैं ।

वस्तुतः राजस्थानी भाषा अपनी स्थान-स्थिति में अक्षुण्ण बनी रहने और निरन्तर लोक-व्यवहृत होने से अति प्राचीन सारस्वत सभ्यता की लोकभाषा वैदिक छन्दस भाषा की मूलभूत विशेषताओं को अपने में ज्यों की त्यों समेटे हुए है । इसलिये उसका वागर्थ जानने को क्षेत्रीय परिप्रेक्ष्य और आंचलिक परिदृश्य का ज्ञान और भान होना नितान्त आवश्यक है । ‘प्राचीन शिलालेखों में राजस्थानी भाषा’ में एतद्विषयक बहुविध प्रमाण संग्रहीत हैं जो पुरष्करणीय हैं ।

प्रस्तुत ग्रन्थ में कुल १५३ शब्दों के अर्थ प्रकाशन की चेष्टा की गई है । व्युत्पत्ति खोजने का प्रयास कम है किन्तु प्रयोग उदाहरण जुटाने की चेष्टा प्रायः सर्वत्र दीख पड़ती है । संपादक ने आपबीती का एक प्रसंग दिया है जिसमें तेरापंथी साधु को किसी श्रावक ने दो टीपरी धृत बहराया और उसे ‘सीपी’ नाम दिया था । लेखक को उसका सही अर्थ व्युत्पत्ति में ही मिला । यदि वह वैदिक वाङ्मय की ओर अभिमुख

होता तो उसे "सपिस्" शब्द के अनेकों प्रयोग भी मिल सकते थे। उसके द्वारा संग्रहीत शब्दों में अनेकों ऐसे हैं जो संस्कृत-प्राकृत और प्रादेशिक भाषाओं में व्यवहार शून्य हो गये अथवा परिवर्तित-परिवर्द्धित हो गये किन्तु राजस्थानी में अभी भी उसी वागर्थ को लिये हुए हैं जिस अर्थ में वे पाणिनिपूर्व प्रयोक्तव्य थे। कुछ उदाहरण देखिए—

१. अञ्भकइ—अचानक भरखे से देखना अथवा चौकने का भाव जो "अकअज कुटि-लायां गतौ"—धातु के प्रयोगों में अकति, अकयति, अजति, अजयति - कुटिलमा-चरति में है।
२. आडंग वर्षा पूर्व का मंडाण—यह भाव भवादि की 'अडिगतौ' और 'अडि-आवरणे'—धातुओं में स्पष्ट है। शतपथ ब्राह्मण (११.१.६.१-२) में यह प्रसंग है—सर्गादौ प्रकृतेः परिणामभूतं यदिहरण्यं महदण्डं समुदपद्यत, तद आयरियाकमा भेदनमप्सु पर्यप्लवद् प्रासर्षद्वा। तदुक्तम्—तासु (अप्सु) तप्य-मानासु हिरण्यभाण्डं सम्बभूव।—अस्य महदण्डस्योत्पत्ति समकालमेव या गतिः समुदपद्यत सैव "अण्डने" इत्याख्यातेनीच्यते।'
३. आरणि—लोहार की भट्टी—यही भाव शब्द करने वाली धातु में मौजूद है—'अण रण रिणि वण भण मण कण किण कुण खुण वण चण गुण गण गिण षण शण पण फण हण धण घृण तृण पुण पूण मुण पीण पिण जण झण हिरण इरण क्षण ढण दुण धण कण इण षूण ष्टन ष्टवन धन ध्वन इवन वन चन शब्दे।' जैसे अणति = ध्वनयति, अणिः लघु द्रव्यम्। अणुः, अणिः अल्प परिधि द्रव्यम्।
४. ओल्लग—को संपादक ने 'अपलग्न' से उत्पन्न बताया है और सेवा, चाकरी आदि अर्थ किए हैं। किन्तु पाणिनि पूर्व की धातुओं में दो धातु हैं—'ओलजी, ओलस्जी व्रीडायाम्' और 'ओलडि उत्क्षेपे।' इन दोनों धातुओं का मिलाजुला भाव ओल्लग में दीख पड़ता है।
५. कोड—चाह, उत्पाह आदि अर्थ किया गया है किन्तु 'कुड वात्ये'—धातु से कुड, कोडः, कोडकः—त्रयः क्रीडके—अर्थ अधिक उपयुक्त है।
६. खेड़ा—गांव या ढाणी अर्थ में प्रयुक्त होता है। 'खड खडि कड कडि भेदे'—पृथक् करणे, खाडयति = पृथग् भवति। 'खडि रूडि मुडि खण्डने'—अवयव विभागे, खण्डति निकृन्तति (विभजति)—इन दोनों धातुओं से एक ही भाव निकलता है।
७. चवणो—कहना अर्थ में प्रयुक्त है जो 'अभवन्न मग्न चव रव धव गतौ'—धातु में चवति = पीडां निवर्तयति (कहकर पीडा मिटाता है) में स्पष्ट है।
८. डंबर—के अनेक अर्थ सुझाये गये हैं किन्तु अधिक खाना और खेलना अर्थ में इसका प्रयोग अधिक सार्थक है। 'लुबि रूबि तुबि तबि कबि विबि अबि णिबि लबि रबि शिबि णबि शबि चुबि चुब चबि चबि हबि षुबि नूबि हेरबि ढालिबि रोलबि ष्टबि ष्टब ष्टुबि टबि डबि कूबि कडबि डुबि ताबि हबि नुणुबि मर्दने'—



धातु में विडम्बति=अत्यन्तं भक्षयति (विडम्ब) अर्थ है और डुम्बति=क्रीडति (डुम्बःक्रीडनम्) दूसरा अर्थ है ।

बहुत से शब्द और लिये जा सकते हैं । संपादक द्वारा संग्रहीत शब्दों से पृथक् भी । जैसे 'मा माने' =मावैकोनी, पृजी सम्पर्क=पजणो, 'जन जनने'=जणनो, 'जुड बन्धने'=जूड़ो करणो, 'कुडि अनृत भाषणे'=कुडो 'दस्त विकारे' दस्त, 'लवि भव-संसने'=लवूटणो, 'रद विलेखने'=रन्दो, 'रडिव्यवचारे'=रणडी, 'मिह सेचने'=मेह पावणो, रमु क्रीडायाम्='रमणो' इत्यादि अनेकों शब्द लिये जा सकते हैं । हमने यह तुलना 'काशकृतस्न व्याकरण' से की है जो पाणिनि से पूर्ववर्ती है और ४५० ऐसी धातुएं देता है जो पाणिनि 'धातु पाठ' में नहीं हैं । आश्चर्य है कि उसमें 'थर्व' धातु हिंसार्थ में है जिससे 'अथर्वन्' शब्द का निर्माण होता है । वहां दूढ़णा क्रिया की मूल धातु 'दुडि' भी है जो स्कन्दपुराण के काशीखण्ड में प्रयुक्त है—अन्वेषणे दुण्डिरयं प्रथितोऽ स्तिधातुः सर्वार्थं दुण्डितया तव दुण्डि नाम । इसी प्रकार 'मरति' क्रिया भी (मृधातु) जो १२-१३ वीं सदी के राजस्थानी शिलालेखों में प्रयुक्त है ।

'राजस्थानी शब्द सम्पदा' में संग्रहीत शब्द बिना किसी अनुक्रम अथवा उपक्रम के हैं और उसी प्रकार उनका अर्थ-संदोहन हुआ है । अच्छा होता यदि इस संबंध में और अधिक खोजबीन के साथ भाषा वैज्ञानिक अथवा पारम्परिक भारतीय ढंग से यह प्रस्तुति होती । 'प्रस्तावना' भी घिसीपिटी होने से इस संबंध में कोई दिशा-निर्देश नहीं करती । फिर भी राष्ट्र भाषा प्रचार समिति का यह प्रयास विद्वानों के लिए आकर्षण का विषय होने से स्तुत्य और प्रशंसनीय है ।

—परमेश्वर सोलंकी

२. जैनदर्शन : दिग्दर्शन ; कवि-मुनिश्री गणेशमल, प्रकाशक, आदर्श साहित्य संघ, चूरू, प्रथम संस्करण—१९८८ पृष्ठ—३५५, मूल्य—२५ रुपये ।

जैन दर्शन : दिग्दर्शन. जैनदर्शन पर मुनिश्री गणेश मलजी द्वारा लिखी गई एक अनुपम कृति है । ऐसा नहीं है कि जैनदर्शन पर इससे पूर्ण इस प्रकार की कृतियां लिखी न गई हो, लेकिन मुनि गणेश जी ने इस पुस्तक को दोहों के रूप में लिखने का जो प्रयास किया है वह अपने आप में अनूठा है । प्रत्येक अध्याय के साथ जो टिप्पण उद्धृत किया है वह भी बहुत ही महत्त्वपूर्ण है और वह दोहों को समझने में मदद करता है ।

पुस्तक में कुल २१ प्रकरण हैं, जिनमें जैनदर्शन की व्याख्या है । सामान्यतः किसी दर्शन पर हम मुख्य तीन दृष्टियों से विचार करते हैं—(१) तत्त्वमीमांसा (२) ज्ञानमीमांसा (३) आचार मीमांसा । तत्त्वमीमांसा में सत्ता के स्वरूप का विवेचन, ज्ञानमीमांसा में ज्ञान सम्बन्धी प्रश्नों का विवेचन और आचार मीमांसा में नैतिक विचार, मोक्ष का स्वरूप, उसके मार्ग, साधना, नैतिक जीवन आदि महत्त्वपूर्ण प्रश्नों की विवेचना की जाती है । मुनिवर ने इन्हीं मुख्य तीन बिन्दुओं का अति विस्तार से विवेचन किया है । इन्होंने अलग-अलग प्रकरणों में विभाजन करके इन तीन मुख्य

खण्ड १८, अंक २, (जुलाई-सित०, ९२)

१५९

विन्दुओं पर जो प्रकाश डाला है वह जैन दर्शन के तात्त्विक और ज्ञानमीमांसीय दृष्टिकोण से बहुत ही महत्त्वपूर्ण है।

सर्वप्रथम मंगलाचरण में तीर्थकरों के प्रति स्तुति करने के बाद दूसरे प्रकरण में तत्त्वमीमांसा पर प्रकाश डाला गया है। किसी भी दार्शनिक तत्र की दार्शनिक विवेचना में उसकी तत्त्वमीमांसा का बहुत ही महत्त्व होता है। तत्त्व की परिभाषा उन्होंने बहुत ही सुन्दर ढंग से प्रथम दोहे में की है। जैन दर्शन में सद्वस्तु को विशेष महत्त्व दिया गया है। वस्तुवादी होने के कारण वस्तु को सत् मानते हैं। इनके अनुसार सद्वस्तु का ज्ञान ही मोक्ष है, जिसे सम्यक् ज्ञान द्वारा प्राप्त किया जा सकता है। मुनिवर ने इस बात को एक ही दोहे द्वारा स्पष्ट किया है—

“कहते हैं सद्वस्तु को, तत्त्व, तत्त्वविद् संत।

तात्त्विक सम्यग् ज्ञान से, भव-सागर का अन्त।”

तत्त्वमीमांसा के प्रकरण में ही जीव-अजीव तत्त्वों का विवेचन, जीव के भेद, अजीव के भेद, पाप-पुण्य, बन्ध, आश्रव, संवर, निर्जरा आदि सभी तत्त्वों का विस्तार से वर्णन किया है, जो जैनतत्त्व मीमांसा को समझने में सहायक है। जैन दर्शन में कर्म-पुद्गलों का विशेष महत्त्व है। आत्मा में शुभ-अशुभ प्रवृत्तियों का प्रवेश ही बन्ध है, उसी को आश्रव कहते हैं। आश्रव की व्याख्या मुनि जी ने निम्न दोहे में की है जो बहुत संक्षेप में ही आश्रव के स्वरूप को प्रकट करती है—

‘जीव नाव में छेद सम, होता आश्रव द्वार।

जिसके द्वारा कर्म जल, आता है बारबार ॥

जिस प्रकार नाव का छिद्र बन्द रखें तो पानी का आना रुक जाता है, उसी प्रकार आश्रव को रोक दिया जाय तो कर्म जल का आना बन्द हो जाता है। यही संवर है। यदि आश्रव बन्ध कारक है तो संवर मोक्ष कारक है। इसकी व्याख्या मुनि जी ने निम्न दोहे में बहुत ही प्रभावी ढंग से की है—

“है आश्रव को रोकना, संवर तत्त्व उदार।

नौका यह निश्छिद्र है, प्राप्त करें भाव पार ॥”

तत्त्वमीमांसा के बाद द्रव्य की मीमांसा में जैनदर्शन में मान्य विभिन्न द्रव्यों की गणना एवं स्वरूप की विवेचना की गई है। जैन दर्शन में द्रव्य ही सत् है, जिसमें उत्पाद, व्यय और स्थिति होती हैं। द्रव्य के इस स्वरूप की व्याख्या, उसके अस्तिकाय, अनस्तिकाय होने, पुद्गल द्रव्य के स्वरूप, उसके धर्म, स्कन्ध प्रदेश, परिणमन आदि की प्रभावी व्याख्या हुई है। इन सभी दोहों में एक बात बहुत ही महत्त्वपूर्ण है कि पाठक यदि जैन दर्शन से पूर्व में परिचित नहीं भी है, तो भी उसे विषय की पूरी जानकारी इन दोहों से हो जाती है।

तत्त्वमीमांसा और ज्ञानमीमांसा सम्बद्ध होते हैं। मुनिवर ने जैनदर्शन के ज्ञान-मीमांसीय पक्ष को भी प्रस्तुत पुस्तक में अच्छी तरह से उजागर किया है। जीव का लक्ष्य ही सम्यग् ज्ञान की प्राप्ति है। सम्यग् ज्ञान के स्वरूप, ज्ञान के भेद आदि की चर्चा भी हुई है। प्रत्यक्ष और परोक्ष ज्ञान का स्वरूप स्पष्ट करके मति, श्रुत,

अवधि, मनःपर्यव, केवल्य आदि सभी पर प्रकाश डाला है ।

सम्यक्त्व मीमांसा में सम्यग्दर्शन की महिमा पर प्रकाश डाला गया है । सम्यग् ज्ञान तो जीव का स्वरूप ही है, लेकिन कर्म पुद्गलों के आश्रय से, कषायों आदि के प्रभाव से आत्मा का यह स्वरूप आवृत्त हो जाता है । इसे अनावृत्त करना ही जैन दर्शन का उद्देश्य है । इस प्रकरण में मुनिवर ने बहुत ही सुन्दर ढंग से यह विवेचन किया है कि किस प्रकार मोहनीय, ज्ञानावरणीय आदि कर्मों के प्रभाव में आत्मा बन्ध को प्राप्त होती है और किस प्रकार मोहनीय आदि प्रवृत्तियों को उपशम कर के सम्यक्त्व की सिद्धि की जा सकती है ।

आचार-मीमांसा में पंच महाव्रत, अणुव्रत, समिति, गुप्ति, संयम, दान आदि विभिन्न विषयों पर प्रकाश डाला गया है । ये सभी जैन साधना के स्तंभ हैं । साधना में आराधना का अपना एक विशिष्ट स्थान है । मुनिवर ने इसकी स्पष्ट व्याख्या आराध्य-मीमांसा में की है । इसमें गुरु और धर्म की बहुत ही सुन्दर व्याख्या हुई है । मुनिवर ने निम्नलिखित दोहे में इसे स्पष्ट किया है—

निज आत्मा निज देव है, निज आत्मा गुरुसार ।

निज आत्मा निजधर्म है, निश्चय नय अनुसार ॥

आत्म-मीमांसा के अभाव में पुस्तक अधूरी रहती । आत्मा क्या है ? उसका स्वरूप क्या है ? आदि प्रश्नों को जाने बिना मोक्ष असंभव है । आत्म-मीमांसा में मुनि जी ने आत्मा के स्वतंत्र अस्तित्व की महिमा का वर्णन किया है । उन सिद्धान्तों का खण्डन भी किया है जो अनात्मवादी है या आत्मा की नित्य सत्ता को अस्वीकार करते हैं । उनको प्रति उत्तर देते हुए ही मुनि जी ने आत्मा के स्वरूप 'पुनर्जन्म' आत्मा की श्रेणियाँ, आत्मध्यान, आत्म-निरीक्षण आदि विभिन्न धारणाओं पर प्रकाश डाला है ।

मुनिवर ने अपनी पुस्तक में 'दार्शनिक विवेचना' प्रकरण में विभिन्न दार्शनिक मतों की विवेचना की है । जैनदर्शन में मान्य तत्त्वों की गणना, स्वरूप आदि के साथ-साथ बालवाद, स्वभाववाद, कर्मवाद, नियति-वाद, पुरुषार्थवाद, समन्वयवाद, नयवाद, अनेकान्तवाद, क्षणिकवाद, मायावाद आदि विभिन्न वादों की स्पष्ट व्याख्या की है और उनका खण्डन भी किया है । उदाहरण के लिए निम्नलिखित दोहों से मायावाद का पक्ष और उत्तर पक्ष बहुत ही सारगर्भित तरीके से प्रस्तुत किया है—

वास्तव में कुछ है नहीं, जग है माया रूप ।

मिथ्या स्वप्न समान है, मायावाद स्वरूप ॥

जैन उत्तर पक्ष—वस्तु वस्तुतः सत्य है, है यथार्थ यह बात ।

असद् वस्तु में हो नहीं अर्थ क्रिया साक्षात् ॥”

इन मतों का खण्डन कर मुनि जी ने जैन अनेकान्त एवं स्याद्वाद की स्थापना की है । ज्ञान की सापेक्षता की स्थापना और निरपेक्षता का खण्डन कर यह बताया गया है कि केवली को ही पूर्ण ज्ञान हो सकता है, अन्य सभी ज्ञान आंशिक होते हैं, अतः वे आंशिक ज्ञान की पुष्टि करते हैं ।

जैनदर्शन में कर्म-मीमांसा का अपना महत्त्व है। यहां कर्म को पौद्गलिक माना गया है। कर्म-मीमांसा में कर्म के लक्षण, कर्म-बन्ध के हेतु, कर्म-विपाक आदि का विस्तार से वर्णन हुए हैं। आत्मा में कर्म प्रवेश ही बन्ध है और कर्म रहित होना ही मोक्ष है। कर्म मीमांसा के अन्त में समुद्घात का जो वर्णन किया है वह जैन दर्शन की अपनी विशिष्टता है। आत्मा को देह परिष्ठाणी मान कर भी, मूल देह का त्याग न कर तैजस और कर्मणा शरीर के साथ जीव प्रदेश का शरीर से बाहर निकालना ही समुद्घात है—

समुद्घात है वेदना, वैक्रिय, तेजस हेय ।

है कषाय और मारणान्तिक आहारक ज्ञेय ।

सप्तम केवल केवली, प्रभु के ही विख्यात ।

वेध नाम और गोत्ररो, विषय करे साक्षात् ।

दर्शन में ईश्वरवाद, अवतारवाद, श्रमणसंस्कृति आदि सभी का अपना महत्त्व है। मुनिवर ने इन तीनों महत्त्वपूर्ण विषयों पर भी पूर्ण प्रकाश डाला है। ईश्वर को जगतकर्ता मानने वालों के प्रति मुनि ने निम्नलिखित टिप्पणी की है जो जैन अनीश्वर-वाद पर स्पष्ट प्रकाश डालती है—

उदासीन कृत कृत्य प्रभु, वीतराग भगवान् ।

कैसे जगरचना करे, निज में लीन महान् ।

साधना के महत्त्व को भी मुनिजी ने अपनी पुस्तक में स्थान दिया है। सम्यग्-ज्ञान प्राप्ति में साधना ही सहायक है। सम्यग् ज्ञान बहुत ही दुर्लभ है, मुनिवर ने अपने दोहों के माध्यम से बताया है कि साधना किस प्रकार सम्यग् ज्ञान को दुर्लभ से सुलभ बनती है। अन्त में मन और इन्द्रियों के महत्त्व पर भी प्रकाश डाला है। साधना में इन इन्द्रियों का भी अपना महत्त्व है। मति ज्ञान और श्रुत ज्ञान तो संयमी सत्ता के आधार है। इन्द्रियों से ही शब्दादिक ज्ञान होता है। इन्द्रियां, मन आदि के विभिन्न कार्यों का अच्छा वर्णन है। मनोन्द्रिय का महत्त्व इस प्रकार दर्शाया है—

होता सकल शरीर में, मन का अपना स्थान ।

होनी है चैतन्य सह, मन की व्याप्ति महान् ।

मन के साथ ही आत्मा के विभिन्न विकार, राग-द्वेष, मोह, शोक आदि की भी व्याख्या की है। चार कषाय, क्रोध मान, माया और लोभ किस तरह बन्ध का कारण बनते हैं। आत्मा के अनन्त गुणों का किस प्रकार आवरण करते हैं, और किस प्रकार इन कषायों पर विजय प्राप्त की जा सकती है, इसकी व्याख्या कर कषायों के नाश की सुन्दर व्याख्या की है।

इस प्रकार 'जैनदर्शन: दिग्दर्शन' पुस्तक में मुनि गणेशमलजी ने जैन सिद्धान्त और व्यवहार का बहुत ही सुन्दर वर्णन किया है। दोहों के रूप में लिखी यह पुस्तक सहज ही ध्यान आकर्षित कर लेती है साथ ही अपना स्पष्ट प्रभाव भी छोड़ जाती है। सिद्धान्त रूप में विस्तार से कही गई बात की तुलना में संक्षिप्त दोहों में कही गई बात अधिक प्रभावी बन पड़ी है। उदाहरण के लिए मोक्ष का वर्णन देखें—

छाछ रहित घृत ह्ये सके, मथनी के सहयोग ।  
कर्म मुक्त त्यों जीव हों, तप के सतत् प्रयोग ॥

पुस्तक के अन्त में जो पारिभाषिक शब्दकोष है, वह बहुत ही महत्त्वपूर्ण है । जैनदर्शन के दार्शनिक प्रत्ययों की विवेचना पाठकों के लिए पुस्तक के अध्ययन को सुगम और सहज बनाती है ।

अन्त में मैं मुनिजी के प्रयास की बहुत प्रशंसा करती हूँ और यह कामना करती हूँ कि भविष्य में भी वे इसी तरह के प्रयासों से जैन समाज ही नहीं सम्पूर्ण मानवता का मार्गदर्शन इस प्रकार के आध्यात्मिक साहित्य से करते रहें । आज के परमाणु युग में जैन अहिंसावाद और उदारवाद ही शांति एवं सद्भावना में सहायक हो सकता है ।

—श्रीमती सुशीला चौहान

अध्यक्ष, स्नातकोत्तर दर्शन विभाग  
डूंगर महाविद्यालय, बीकानेर

**३. रोशनी की मीनारें**—प्रथम-संस्करण—१९९१, मूल्य-५० रुपये, पृष्ठ संख्या-५२३+१५ । लेखिका-साध्वी निर्वाणश्री । सम्पादक—मुनिश्री धर्मरुचि प्रकाशक-अखिल भारतीय तेरापन्थ युवक परिषद्, 'युवालोक', लाडनू (राजस्थान)

आज उत्तम संस्कारों के बीज बोने और उन्हें पल्लवित कर सकने वाले साहित्य की आवश्यकता है । इस ओर अखिल भारतवर्षीय तेरापन्थ धर्मसंघ की विदुषी साध्वी निर्वाणश्री का ध्यान गया । तेरापन्थ धर्मसंघ के जिनकल्प नवम आचार्य श्री तुलसी गणी के शैक्षिक प्रयत्न से जो विशिष्ट शताधिक साध्वियां तैयार हुई हैं, साध्वीश्री निर्वाणश्री जी उन्हीं में से एक हैं ।

आपके द्वारा प्रणीत ग्रन्थ का नाम है 'रोशनी की मीनारें' । ग्रन्थ की बीस कहानियों के नाम इस प्रकार हैं—

१. महासती ब्राह्मी (पहला कदम), २. महासती सुन्दरी (प्रतिबोध), ३. महासती दमयन्ती (अमावस में खिलती पूर्णमासी), ४. महासती कौशल्या (अपराजिता), ५. महासती सीता (अबोला समर्पण), ६. महासती कुन्ती (उत्सर्ग), ७. महासती द्रौपदी (अप्रकम्प दीपशिखा), ८. महासती राजीमती (शङ्खनाद), ९. महासती पद्मावती (गङ्गा का अवतरण), १०. महासती मृगावती (मैं अबला नहीं हूँ), ११. महासती चन्दनवाला (गोरव का हस्ताक्षर), १२. महासती प्रभावती (उपकार का साया) १३. महासती शिवा (अमिट पदचिह्न), १४. महासती सुलसा (फौलादी चट्टान), १५. महासती पुष्यचूला (आश्विन की नदी), १६. महासती सुभद्रा (सङ्गम), १७. महासती शीलवती (सोने में सुहागा), १८. महासती चेलना (कसौटी चढ़ा कञ्चन), १९. महासती अञ्जना (सङ्घर्ष), २०. महासती मदनरेखा (रोशनी की मीनार) ।

इन में से प्रारम्भ की सोलह महासतियों के नाम अधिक असिक हैं—

खण्ड १८, अंक २ (जुलाई-सित०, ९२)

१६३

“ब्राह्मी चन्दनबालिका भगवती’ राजीमती द्रौ’ पदी  
 कौशल्या’ मृगावती च सुलसा शीता’ सुमद्रा शिवा ॥”  
 “कुन्ती शीलवती नलस्य दयिता” चूला” प्रभावत्यहो  
 “पद्मावत्यपि सुन्दरी दिनमुखे कुर्वन्तु वो मङ्गलम् ॥”

प्रथम ब्राह्मी की और द्वितीय सुन्दरी की कहानी अत्यन्त प्राचीन है। ये दोनों प्रथम तीर्थङ्कर ऋषभदेव की कन्याएं हैं और भारत के प्रथम सम्राट् भरत की अनुजाएं। भगवान् ऋषभदेव ने ब्राह्मी को ब्राह्मीलिपि सिखाई थी और सुन्दरी को अङ्क:विद्या।

नीलाञ्जना की आकस्मिक मृत्यु देखकर ऋषभदेव को वैराग्य हो गया। फलतः उन्होंने भरत को उत्तराधिकार देकर दीक्षा लेली और घोर तप तपने लगे। उस समय उनकी मां मरुदेवी जीवित थीं। उनको ब्राह्मी से बहुत प्यार था। वे ब्राह्मी को सदा अपने पास रखती थीं। अकस्मात् उनका निधन हो गया। दादी की मृत्यु से ब्राह्मी को बड़ा सदमा लगा। वह बेचैन रहने लगी। संसार की असारता और जीवन की क्षण भङ्गता उसके ध्यान में आ गयीं।

ब्राह्मी ने समवसरण में विराजमान भगवान् ऋषभदेव से दीक्षा लेने का विचार किया। अपने भाई सम्राट् भरत से इसके लिए अनुमति मांगी, पर वे ब्राह्मी का विवाह करना चाहते थे। अतः विचार करके उत्तर देने को कहा।

वैराग्य परिपाक की पराकाष्ठा तक जा पहुंचा। अब ब्राह्मी को घर में रहना कठिन प्रतीत होने लगा। फलतः उसने भाई भरत से विनय पूर्वक, अनुमति देने की प्रार्थना की। अन्ततोगत्वा उन्हें अनुमति देनी पड़ी। अनुमति पाकर ब्राह्मी ने भगवान् ऋषभदेव से यथाविधि दीक्षा लेकर दुर्धर तप तपना शुरू कर दिया।

दूसरी कहानी ब्राह्मी की छोटी बहन सुन्दरी की है। इस नाम का कारण उसका अनुपम सौन्दर्य था। सौन्दर्य के साथ उसमें अगणित अनुपम गुण भी थे। जिस दिन ब्राह्मी ने दीक्षा ली थी उसी दिन से सुन्दरी भी दीक्षा लेने को लालायित हो गयी। पर भाई की अनुमति की प्रतीक्षा में उसे रुकना पड़ा। भाई-सम्राट् भरत दिग्विजय में व्यस्त थे। इधर सुन्दरी ने आचाम्ल व्रत का परिपालन प्रारम्भ कर दिया। इस से उसकी सुन्दरता का खजाना अदृश्य हो गया और शरीर अस्थिपञ्जर। दिग्विजय से भरत के लौटने पर सुन्दरी ने उन से दीक्षा लेने की अनुमति मांगी। वे अनुमति नहीं देना चाहते थे पर सुन्दरी के अहार्य निश्चय को देख कर देना पड़ी। अनुमति लेकर सुन्दरी ने भी भगवान् ऋषभदेव से दीक्षा लेली और घोर तपश्चरण में लीन हो गयी।

इसी तरह इन दोनों कहानियों की भांति आगे की सभी कहानियां अत्यन्त शिक्षाप्रद और रोचक हैं। कहीं-कहीं तो चित्तद्रुत हो जाता है और आंखों से गङ्गा-यमुना की धाराएं प्रवाहित होने लगती हैं, पढ़ते-पढ़ते। लेखिका साध्वी जी की लेखन शैली अत्यन्त प्रभावक है। बीस कहानियों में से किसी भी एक को शुरू करने पर उसका अन्त किये बिना मन तृप्त नहीं होता—आगे का वृत्त जानने की उत्सुकता बढ़ती ही जाती है।

इनप्राचीन कहानियों के पढ़ने से उस युग की कन्याओं और महिलाओं के उदात्त चरित की स्पष्ट जानकारी मिलती है और अन्य अद्भुत ज्ञातव्य बातों का भी बोध होता है। गलित कुष्ठ अत्यन्त दुःखदायी असाध्य रोग है। उस युग के वैद्य इसे कुछ ही दिनों में मूल से मिटा देते थे। इस विषय में प्रस्तुत ग्रन्थ के आठवें पृष्ठ पर लिखा है—

“.....वैद्य पुत्र जीवानन्द ने मुनि श्री की चिकित्सा प्रारम्भ कर दी। सर्वप्रथम मुनिश्री के सारे शरीर पर लक्षपाल तैल का मर्दन कर रत्नकम्बल ओढ़ा दिया गया। इस प्रक्रिया का चामत्कारिक असर हुआ। तैल की ऊष्मा से चर्मगत कुष्ठ के सारे कीटाणु कम्बल पर आकर चिपक गये। तब कम्बल को उतार लिया गया और उसे सावधानी पूर्वक भाड़कर सारे कीड़ों को अलग कर दिया गया। तैल की गर्मी को शांत करने के लिए सारे शरीर पर गोशीर्ष चन्दन का लेप कर दिया गया। इस उपचार से एक दिन में ही मुनिश्री की आधी व्याधि शांत हो गई।

दूसरे दिन यही प्रक्रिया पुनः दुहराई गई। आज तैल की गर्मी से मांसगत कीटाणु बाहर निकल आये। शेष अस्थिगत कीटाणु तीसरे दिन इसी प्रयोग से बाहर आ गए।

“मुनिश्री अब पूर्ण स्वस्थता महसूस करने लगे। उनका शरीर कुन्दन की तरह दमकने लगा।”

इस तरह प्रस्तुत ग्रन्थ बीस महासतियों के पवित्र वृत्त पर विशद प्रकाश डालने के साथ-साथ अनेक प्राचीन रहस्यों को उद्घाटित करता है। ये कहानियां चारित्रमार्ग से भटकते मानव को रोशनी का काम देंगी।

ग्रन्थ के प्रतिभाशाली सम्पादक मुनिश्री धर्मरुचि के कुशल सम्पादन से ग्रन्थ का आकर्षण और बढ़ गया है।

ग्रन्थ की लेखन शैली, प्राञ्जल भाषा, पक्की जिल्द तथा छपाई-सफाई सभी उत्तम हैं। प्रूफ संशोधन की ओर भी पूर्ण सावधानी रखी जाती तो सुन्दरता और बढ़ जाती। ऐसी उत्तम कृति के प्रकाशन के लिए लेखिका, सम्पादक और प्रकाशक सभी अभि-नन्दनीय हैं।

—अमृतलाल शास्त्री  
ब्राह्मी विद्यापीठ, लाडनू

४. ‘संस्कृत शतकपरम्परा और आचार्य विद्यासागर के शतक’—लेखिका श्रीमती डॉ० आशालता मलैया। प्रथम संस्करण—१९८९, प्रकाशक—जय श्री आयल मिल, दुर्ग, मूल्य—१२० रुपये, पृष्ठ ४७१।

प्रस्तुत कृति सागर विश्वविद्यालय से स्वीकृत शोध प्रबंध है। उसमें कुल ५१ शतकों की विवेचना की गई है जो स्तुति, वैराग्य, नीति और श्रृंगार भेद से चार प्रकार के हैं। लेखिका ने संस्कृत शतक परम्परा को आचार्य समन्त भद्र के ‘जिनशतकम्’ से शुरू माना है।

प्रथम खण्ड में क्रमशः २१ स्तुति अथवा भक्ति शतक, ८ वैराग्य शतक, १३

खंड १८, अंक २ (जुलाई-सित०, ६२)

१६५

नीतिशतक और ९ शृंगार शतकों का विवेचन किया है। द्वितीय खण्ड में आचार्य विद्यासागर के द्वारा रचित ५ शतकों का पृथक् से अध्ययन किया है और उनके अमूर्त-कथ्य को मनमोहक ढंग से प्रस्तुत किया है।

अभी पिछले दिनों में पं० पन्नालाल साहित्याचार्य ने पञ्चशती—शीर्षक से आचार्य विद्यासागर के पाँचों शतकों को, संस्कृत टीका और हिन्दी रूपान्तरण के साथ ज्ञानगंगा, दिल्ली के द्वारा प्रकाशित करवाया है। सन् १९९१ में छपे इस संस्करण में स्वयं आचार्य विद्यासागर द्वारा किया शतकों का पद्यानुवाद भी प्रकाशित है। जो स्वतंत्र रूप से हिन्दी पाठकों के लिए उत्कृष्ट साहित्य-सौपानों पर शान्त रस की निर्भरिणी सी बहता प्रतीत होता है।

आचार्य विद्यासागर पिछले लगभग बीस वर्षों से साहित्य स्रजन कर रहे हैं। हिन्दी और संस्कृत में वे समान रूप से उदात्त रचना करते हैं। उनके द्वारा किए अनुवाद भी बहुत सरम और मनोहारी हैं। समण सुत्त का अनुवाद तो मचमुच 'जैनगीता' ही बन गया है। आप ने संवत् २०३१ में जब वे अजमेर—राजस्थान में वर्षावास कर रहे थे तो श्रमकशतक की रचना की थी। कुण्डलपुर सिद्ध क्षेत्र में निरंजनशतक, फीरोजाबाद में भावनाशतक, कुण्डल गिरि क्षेत्र में परिषहजयशतक और ईसरी (गिरिडीह) में सुनीतिशतक रचा गया।

इन पाँचों शतकों में अनेकों शब्द ऐसे प्रयुक्त हैं जो साधारणतया संस्कृत वाङ्मय में कम प्रयोग हुए हैं। शब्दालंकार भी स्थान-स्थान पर बंधेज की साड़ी में बनी बेल बूटी की तरह सजे हैं। आचार्यश्री की अनूठी सूझ-बूझ भी जगह-जगह चमत्कार उपस्थित करती है। दो उदाहरण देखिये—

शृंगार एवैकरसो रसेषु,  
न ज्ञाततत्त्वाः कवयो भणन्ति ।  
अध्यात्मशृंगंतिवति राति शांतः  
शृंगार एत्रेति मगाशयोऽस्ति ॥

कि रसों में एक शृंगार ही प्रमुख है—ऐसा यथार्थ वेत्ता कवि नहीं कहते। मेरा अभिप्राय यह है कि जो अध्यात्म को शृंग (शिखर) पर बैठाते हैं वे ही शृंगार करते हैं।

वर्णस्य पात्रं किल विश्व शास्त्रं,  
मलस्य पात्रं तव रूपि गात्रम् ।  
चिद्वस्तुमात्रं हि सुखस्य पात्रं,  
सर्वह्यपात्रं स्मर चेतसाऽत्र ॥

कि जैसे समस्त शास्त्रों में अक्षर मरे हैं, तेरे सुन्दर शरीर में मल भरा है। इसमें केवल चैतन्य ही सुख का पात्र है। शेष सब अपात्र हैं। सोच के देख ले !

उक्त दोनों उदाहरण नीति शतक के हैं। वही सहज बोधगम्य भी है। वस्तुतः पूर्व संस्कार जन्य वैराग्य ने आचार्य विद्यासागर में श्रुत महोदधि को विडोलित कर



रखा है जिससे समय-समय पर नित नूतन रत्न प्रसूत हो रहे हैं। लेखिका ने अपने अध्ययन में पाँचों शतकों से अनेकों पद्यों का चयन किया है और पद्यों में आये अप्रसिद्ध शब्दों के अर्थ को खोलने का प्रयास भी किया है। कहीं-कहीं तो ऐसा लगता है जैसे वह स्वयं उसकी स्वानुभूति कर रही है।

लेखिका को अपनी बात दूसरों के शब्दों में कहने का भी महारथ हासिल है। विषय प्रवेश में २९ उद्धरण देकर वह कहती है कि 'गीति के मूल में भावोद्भूत जाग्रत करने में दुःख की महत्त्वपूर्ण भूमिका रहती है। कवि का व्यष्टि रूप दुःख ही गीति के माध्यम से समष्टि रूप धारण कर पाठको के हृदय की संवेदनशीलता को जागृत करता है।' मुक्तक काव्य की परम्परा, संस्कृत गीतिकाव्य के मूल तत्त्व और संस्कृत गीतिकाव्य की विशेषतायें—शीर्षकों का भी यही हाल है।

किन्तु उसने समन्तभद्र, मयूर भट्ट, बाणभट्ट, आनन्दवर्धन, मूककवि, सोमेश्वर, भर्तृहरि, पद्मानन्द, भुजबली शास्त्री, अमरूक, नरहरि, जनार्दन और नीलकण्ठ जैसे शतक प्रणेताओं का काव्य सौष्टव बता कर आचार्य विद्यासागर के शतकों का काव्य शास्त्रीय अनुशीलन करने का बीड़ा उठाया है। स्वयं वह आचार्य श्री विद्यासागर के प्रति भक्ति-विह्वल भी है जैसा कि समर्पण से स्पष्ट है।

फिर भी उसका शोध कहीं भी पक्षपाती नहीं लगता। उसका यह निष्कर्ष है कि बाणभट्ट की अभिनव कल्पनाएं (चण्डी शतक में), आनन्दवर्धन के शब्दालंकार, मूककवि की भक्ति, आचार्य समन्तभद्र का पाण्डित्य और सोमेश्वर की सुबोधता तथा मयूर भट्ट के काव्य वैभव को आचार्य विद्यासागर के अमूर्त चिन्तन तथा शान्त रस और माधुर्य के अतिरेक के साथ समजन किया जा सकता है जो एक-एक छन्द-प्रयोग से स्रग्धरा पर उतारा गया है। फलतः ये काव्य पाठकों को ब्रह्मानन्द सहोदर—काव्य रस में निमज्जित करते हैं—

समुपलब्धौ समाधौ साधुस्तथागतरागाद्युषपाधौ ।

यथा सरिद् वारिनिधौ मुदमुपैति च निधनो निधौ ॥

सचसुच साधु की राग रहित समाधि में और नदी के समुद्र-संगम में आनन्द ही आनन्द है।

—परमेश्वर सोलंकी

संसारविषवृक्षस्य द्वयमेवामृतं फलम् ।  
सुभाषित रसास्वादः सद्भिश्च सह संगतम् ॥

## पत्राक्षः

आत्मयोगी राम ने 'इंस्टीट्यूट ऑफ भारतलोजीकल रीसर्च, बीकानेर' से एक विस्तृत पत्र लिख भेजा है कि उसे 'सांगिक पूर्ण सम्मति' रूप में ही छापें। इसलिये उनका पत्र अविकल रूप में नीचे प्रकाशित किया जा रहा है—

“प्रिय भाई डॉ० सोलंकी,

आपने मेरे पास 'तुलसी प्रज्ञा' के पांच अंक भेजे पर कल प्राप्त हुआ पांचवा अंक, कुछ ऐतिहासिक सामग्री के कारण मुझे आकर्षित कर सका। मेरी बधाई स्वीकार करें। इस संबंध में इन तथ्यों पर विचार करें—

१. आपने मेरे संदर्भ से अपने लेख—'उत्कल में कलिंग जिन' पर मुझे 'वानप्रस्थी राम' के नाम से पहचानना या पहचानवाया है। बैंकेट में पुराने नाम (रामचन्द्र जैन) को देना अनावश्यक था। आपको याद होगा कि आपने अपनी छपी पुस्तक "एक ही संवत्सर" पर 'सम्मति' मेरे से लिखी थी तब मैंने आपको कहा था कि इसे केवल 'राम' या 'आत्मयोगी राम' नाम से छापें। डॉ० अमृत नाहुटा ने भी एक तेरापंथी साधु की योग-पुस्तक पर मेरी सम्मति, पिलानी की एक हिन्दी पत्रिका में इसी नाम से छपवाई थी। मैं १९७२ से 'आत्म संन्यास' में आ गया और १९८१ में आत्मयोग सिद्धि के बाद से इसी नाम से मेरी पुस्तकें व शोध लेख छपे हैं। कृपया भविष्य में जरूरत पड़े तो केवल 'राम' नाम से छापें। चाहें तो आत्मयोगी संज्ञा लगा सकते हैं।

२. मैं अपने लिखे जा रहे 'महाग्रन्थ' में आपके लेख का ही संदर्भ दूंगा।

३. हमारे इतिहासपरक लेख भी कालक्रमिक, द्वन्द्वात्मक और ऐतिहासिक शोध दृष्टि व सांगिक समालोचनात्मक पद्धति के अभाव में अपने पूर्ण व सम्यक् निष्कर्षों पर नहीं पहुंच पाते। प्राच्य विद्या की ऐतिहासिक व समालोचनात्मक शोध पद्धति को मैंने १९५२ से ही उपरोक्त प्रकार से विकसित कर अपने शोध ग्रन्थ लिखे। इसका वर्णन मैंने अपने प्रथम छपे The Most Ancient Aryan Society की भूमिका में किया था। यह पुस्तक मैंने १९६४ एडी, में आचार्यश्री जी को गंगासाहर में भेंट की थी। अब तो मैंने इतिहास, मिथकवाद और मिथक कथावाद सिद्धांतों पर एक शोध ग्रन्थ ही लिख दिया है। आप यह दृष्टि व पद्धति स्वीकार कर शोध लेख लिखें तो वे शोध लेख होंगे नहीं तो केवल मनीषि (एकेडेमिशियन) लेख। आपका यह लेख उदाहरण है।

४. आपका मनीषि-लेख 'पञ्चपरमेष्ठि पद और अर्हन्त तथा अरिहन्त शब्द' ऐतिहासिक साक्षियों की दृष्टि से बहुत महत्त्वपूर्ण है। आपने इसमें ऋग्वेद (१००० बी. सी.) तक की साक्षियों प्रस्तुत की हैं। आपका संदर्भ नं० १२ भी महत्त्वपूर्ण है। पर यही काम तो आप को करना था कि सुदास और नहुष का अर्हन्त् पद के साथ क्या संबंध था? मैंने एक शोध ग्रन्थ में आदि अर्हन्त् महान् ऋषभ के साथ अर्हन्त् महान् मनु-विश्वामित्र—राम—कृष्ण—द्वैपायन कृष्ण (तथाकथित व्यास)—पार्श्व—महावीर—बुद्ध—गौतम के साथ-साथ 'नहुष ययाति आदि पञ्चजनाः' को भी अर्हन्त् महान् सिद्ध किया है पर सुदास अर्हन्त्-महान् न थे। वे तो मात्र एक हिंसक वीर योद्धा थे जिन्होंने तृतीय ब्रह्मार्यों—भारतेय—दाशराज्ञ-महायुद्ध में आक्रामक ब्रह्मार्य सेना का प्रधान सेनापतित्व किया था। इन्द्र व वशिष्ठ उसके अधीन छोटे सेनापति थे। इन ऋग्वेदीय मंत्रों की इतिहास परक व्याख्या का आप एक वास्तविक शोध लेख लिखें।

५. दूसरी महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक साक्षी आपने महाराजा खारवेल जो प्रथम शती ई० पू० के मध्य में हुए, की दी है। इसका 'ऐतिहासिक अर्थ' यह कि परमेष्ठिपद में इस कालक्रम तक केवल 'अर्हन्त् और सिद्ध' को ही नमस्कार किया जाता था आचार्य—उपाध्याय—साधु गण को नहीं। प्रशस्ति में 'सव्व' शब्द का सिद्ध के साथ होना व अर्हन्त् शब्द के साथ न होना अस्वरता है। क्यों? शोध करें। आचार्य के साथ 'सव्व' नहीं और साधुगण के साथ, यह क्यों? इसका एक सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण निष्कर्ष यह है कि प्रथम शती ई० में विभाजित होने से पहले यानी दिगम्बर-श्वेतांबर में विभाजित होने से पहले अविभाजित जैन-समाज आचार्य—उपाध्याय—साधु—त्रयी को नमस्कार नहीं करता था। क्यों? कालक्रम व द्वन्द्वात्मक रूप में यह कब प्रारंभ हुआ और क्यों? इस 'क्यों?' का उत्तर देना इतिहासज्ञ का मूल व प्रथम उत्तरदायित्व है।

६. अंग्रेजी सेक्शन में डॉ० उपेन्द्रनाथ राय का 'Xandrimc And Sandracottus' मनीषि लेख आकर्षक है और आपकी सम्पादकीय टिप्पणी भी। इसमें लेखक चन्द्रगुप्त पर जोर न देकर वह भूगोल में फंस गया है। इतिहासज्ञ को चन्द्रगुप्त का कालक्रम निश्चित करना अनिवार्य है। जैन वाङ्मय में उसका कालक्रम, भद्रबाहु के जीवन काल में वही निश्चित किया गया है जो आधुनिक इतिहास स्वीकार करता है। यानी C. ३२५ B. C. to C. ३०३ B. C.। उसी के युग में प्रथम पाटलिपुत्र आगम वाचना हुई थी। आधुनिक इतिहास ने भी इस इतिहास—सत्य को स्वीकार किया है। इस मनीषि-लेख में चन्द्रगुप्त महान् के साथ घोर अन्याय हुआ। विस्तार से चर्चा की ऐतिहासिक आवश्यकता है।

७. अपने सभी मनीषि-लेखकगण से भी, कृपया अनुरोध करते रहिए कि वे इतिहास-विषयक शोध लेख लिखें और सम्यक् शोध दृष्टि व शोध पद्धति अपना कर लिखें। इससे 'तुलसी प्रज्ञा' का आकर्षण जागतिक-क्षेत्रों में भी बढ़ेगा। इतिहास सत्य है।

मिथकवाद व मिथककथावाद मिथ्यात्व है। यह सत्य उनकी संज्ञाओं से भी प्रत्यक्ष है।

८. आप 'तुलसी प्रज्ञा' में पाठकों के विचारों के अंश छापते रहते हैं; पर मेरी मत—सम्मति सांगिक है अतः संदर्भ से पृथक् कर इसे न छापें/छापें तो 'सांगिक-पूर्ण-सम्मति' छापें वरना न छापें !

९. 'तुलसीप्रज्ञा' में अनेतिहासिक यानी मिथकीय लेख तो अधिकांश छपते ही रहते हैं पर मैं 'निषेधक-सम्मति' कभी प्रस्तुत करता नहीं। यह शुभ होगा यदि वे मनीषिण लेखक भी अपने लेखों का आधार इतिहास को बनावें। वे उसी इतिहास को सम्यक्-इतिहास स्वीकार करें जो 'इतिहास-सिद्धांत' के अनुसार अस्तित्व में आया हो।

१०. आपके सम्पादकत्व को उत्कृष्ट बनने में सहयोग देने की दृष्टि से उपरोक्त सुभाव हैं। जिन्हें आपका विवेक स्वीकार करे उन्हें माने। बाकी मुझे लौटा दें।

नोट—अंक के अन्तिम पृष्ठ पर आपने 'ऋषभ देव मुद्रा' छापी है। यह C. ४००० B. C. की है पर इसमें ऋषभ का C, ९००० B. C. से C. १००० A. D. का इतिहास छिपा पड़ा है। इस पर एक विस्तृत शोध लेख छापिए।”

प्रबुद्ध पाठक और लेखकों से निवेदन है कि आरमयोगी के सुभावों पर अपनी प्रतिक्रियाएं भेजें और 'परमेष्ठीपद' और 'चन्द्रगुप्त महान्' विषयक अपने विचार भी प्रकाशनार्थ भेजें।

—संपादक

२. 'तुलसी प्रज्ञा' के १७ वें खण्ड के सभी तथा १८ वें खण्ड का पहला अंक मिला। आप निःसन्देह 'तुलसी प्रज्ञा' के माध्यम से जैन विद्या के क्षेत्र में अब तक अछूती और महत्वपूर्ण सामग्री प्रकाश में ला रहे हैं।

जैन कला के किसी विषय को लेकर 'तुलसी प्रज्ञा' के लिए मैं भी कुछ लिखने का प्रयास करूंगा।

—डॉ० ए. एल. श्रीवास्तव  
स्टाफ क्वार्टर्स, ५ डी/४  
लिडिल रोड, जार्जटाउन  
इलाहबाद-२११००२

३. आप द्वारा प्रेषित अप्रैल-जून १९९२ का अंक मिला। यह निर्विवाद है कि जबसे आपने 'तुलसी प्रज्ञा' के संपादन का कार्यभार संभाला है, उसमें चार चांद लग गये हैं। आपकी सफलता की हेतु कामना करता हूँ।

प्रो० भूपतिराम साकरिया  
भूतपूर्व अध्यक्ष, हिन्दी विभाग,  
'सुविज्ञा', बल्यभविद्यानगर (गुजरात)

४. 'तुलसी प्रज्ञा' अनुसंधान पत्रिका खण्ड १८ का प्रथम अंक प्राप्त हुआ और यही था इस पत्रिका के पहली बार अवलोकन करने का शुभावसर। वस्तुतः इसका बाह्या-वरण, जितना आकर्षक एवं मनोरम है, उतना ही इसका अन्तः पक्ष भी सारगर्भित एवं वेदुष्य पूर्ण है। हिन्दी एवं अंग्रेजी दोनों भाषाओं में अनुसंधान पूर्ण लेखों से चमत्कृत आपका यह प्रयास जैनविद्या में हो रहे शोध कार्यों के लिए अत्यन्त उपयोगी एवं महत्त्वपूर्ण है। इसके विद्वान लेखक भी साधुवाद के पात्र हैं जो अपने ज्ञान-पुंज से जैन जगत् को समलंकृत कर रहे हैं। इस अंक में प्रकाशित मुनि श्री गुलाबचन्द 'निर्मोही' के लेख-तेरापंथ का संस्कृत साहित्य : उद्भव एवं विकास से अत्यन्त प्रभावित हूँ।

—डॉ केशव प्रसाद गुप्त  
चरवा (इलाहबाद)  
—२१२२०३

५. इस अंक में मुनि श्री गुलाबचन्दजी का लेख—'तेरापंथ का संस्कृत साहित्य : उद्भव एवं विकास' अत्यन्त श्लाघनीय है। युवाचार्य श्री महाप्रज्ञ की आशुकविता एवं मंदाकांता छन्द में निबद्ध खण्ड काव्य—अश्रुवीणा के पद महाकवि कालिदास की कृति मेघदूत की स्मृति दिलाते हैं।

तेरापंथ धर्म संघ में संस्कृत वाङ्मय के प्रचार व विकास के लिए आचार्य श्री तुलसी द्वारा किए जा रहे प्रयास स्तुत्य व अनुकरणीय हैं। इस दिशा में अनेक विद्वान् मुनि सतत् साधना में संलग्न हैं।

मुझे पूर्ण विश्वास है कि 'तुलसी प्रज्ञा' आपके संपादन काल में अप्रत्याशित रूप से प्रगति की ओर बढ़ती रहेगी।

—वैद्य सोहनलाल दाधीच  
निदेशक, सेवाभावी कल्याण केन्द्र  
लाडनू

6. Thank you for your Tulsi Prajna of April-June 1992 which was delivered in my absence. Here and there I gone through your editorial, Punch Parmesthi Pad and critical annotation on article of Dr. Ramjee Singh. The quality of your Magazine has sizably improved. You deserve appreciation and admiration.

—R.L. Kothari  
Sodala Road, Jaipur.



# Tulsi Prajna

QUARTERLY RESEARCH JOURNAL

Vol. XVIII

July-September, 1992

No. 2

(ENGLISH SECTION)

*Editor :*

**Dr. Parmeshwar Solanki**



**Jain Vishva Bharati Institute,  
Deemed University, Ladnun-341306**





## THE GREAT PILGRIM ACHARYASHREE TULSI\*

Acharyashree's foot-journey is a pilgrimage undertaken to bring about an awakening in the common people. Lord Mahavir, Lord Buddha and Adiacharya Shankar—all ignited the flame of religion by going on foot from place to place. Whatever Acharyashree has been able to accomplish is also largely due to his travelling.

In the course of his travels, he has seen much, heard much and understood much. He has received much and also given a good deal. He has endured a lot and talked much. He who does not know about his foot-journeys, cannot fully appreciate his philosophy of life.

Acharyashree generally covers 13-14 miles per day, sometimes 20-22 miles. During his journey from Calcutta to Rajsamand, he walked 20-22 miles on some days. At times he is obliged to cover longer distances to meet a deadline at the shravakas' request. Acharyashree undertook long journeys in Khandesh. Not only has he kept his own word but also tried to redeem his workers' undertakings. Here is the reason for longer daily journeys in Acharyashree's own words : "Mishrimalji Surana said, we have announced your programme on the occasion of Ramnaumi in Aurangabad," so it was necessary to reach there in time. Therefore, longer journeys were undertaken. On two days we covered 19 miles each. We walked 11-12 miles at a stretch."

Acharyashree's journeys do not inspire people to move only in one direction, rather they shed some light on every aspect of living. Strife and frustration are two cankers that eat away the substance of life. Acharyashree has helped numerous individuals and families to come out of their grip.

It happened at Bari Ravalia (2.6.60). Acharyashree visited Shobhalal's mother's paternal home. There, 14 year-old boy handed over a letter to Acharyashree. When Acharyashree asked what it was, he said, "It contains a request, I wish you would kindly settle the dispute going on between my maternal grand father, Gerilalji and the Village-folk. Acharyashree asked him who, in his opinion, was to blame". The boy replied, "My grandfather, to be sure!" Acharyashree remonstrated with his grandfather. That very night, by 2 A.M. the dispute was settled. Thanks to Acharyashree's inspi-

ration, what looked so intricate and impossible was easily resolved.

Acharyashree is not a judge of any court, yet he is the repository of justice. Every one is attracted to him. The Harijan hosts of Kanana presented a letter before him, to the effect :

We, belonging to the Meghvansh caste, are the natives of this place. We are the victims of the high-handedness of the money-lenders. So, kindly remonstrate with them. By their dishonesty, they cause us great sorrow. If this load is taken off us, we should be able to improve our lot.

Also, they practise untouchability so strictly that we dare not ascend the steps leading to their shops. Are we not among the sons of man ? Your aims are highly beneficial and designed to serve the good of all mankind. We promise to serve the good of all mankind. We promise to live in accordance with your teachings and shall never act contrary to the rules of the Anuvrat Movement.

—We repose our trust in you/  
Meghvansh Community (Kanana)

Acharyashree has touched thousands of villages during his foot-journeys. Lakhs of rural folk have come into contact with him and many of them became free from addictions. The work of character development and moral training which cannot be accomplished even by spending crores of rupees, gets easily done through these journeys of Acharyavar.

### Pilgrimage

Acharyashree believes that man himself is the greatest place of pilgrimage. All the places of pilgrimage have been created by his inner power. Acharyashree has travelled far and wide in order to awaken man's inner power. Therefore, his journeying in itself is a pilgrimage. He has also been to many places of pilgrimage. From this point of view, too, his travelling is a pilgrimage. He has been to Pt. Nehru's new places of pilgrimage—Mythan, Meenakshi Dam, Jhumri Tallia Dam, etc. He has also been to the ancient places of pilgrimage—Devghar, Prayag, etc. He has also visited the Buddhist places of pilgrimage like Sarnath, Bodhgaya and Nalanda. He also spent many days at the Jain places of pilgrimage, like Rajgrih, Sammed-Shikhar, Abu, Ranakpur, Palitana, etc., Acharyashree has also visited the modern places of pilgrimage—the Hindu University at Varanasi, Shanti Niketan, Sanskrit University, Government Library, Bhandarkar Research Institute, Madras University, Delhi University, Annamalai University,

Agricultural University, Hissar and Rajasthan University, Jaipur, etc.

### Acharyashree and Vinoba Bhawe

The meeting with Acharya Vinoba took place at Rajghat, the Samadhi of Gandhiji. Vinoba said, "The Shramans have undertaken foot-journeys right from the beginning. Now I, too, have adopted this practice of yours." Acharyashree replied, "Very good ; now we are two foot-travellers. The people of India mostly live in the villages. Foot-journeying is an excellent means of establishing contact with them."

Vinobaji : How many miles do you cover in one day ?

Acharyashree : About 10-12 miles.

Vinobaji : I, too, cover that much distance.

The Anuvrat and Bhudan Movements once again highlighted for the nation the importance of foot-journeys.

Acharyashree has covered about 60 thousand kilometres on foot. Below are his detailed important pilgrimages :

<i>Year</i>	<i>States visited</i>
1941-1953 :—	From Bikaner State to Jaipur, Delhi, Haryana, Punjab, Delhi, Haryana & Rajasthan.
1953-1957 :—	Rajasthan to Gujerat, Bombay, Khandesh, M.P. & Rajasthan.
1957-1961 :—	Rajasthan to U.P., Bihar, Bengal, Bihar, U.P., Delhi, Haryana & Rajasthan.
1966-1967 :—	Rajasthan to Delhi, Haryana & Rajasthan.
1967-1972 :—	Rajasthan to Gujerat, Maharastra, Karnatak, Tamil Nadu, Karnataka, Andhra Pradesh, Orissa, M.P. & Raj.
1972-1976 :—	Rajasthan, Haryana, Delhi & Raj.
1978-1982 :—	Rajasthan, Haryana, Delhi, Haryana, Punjab, Haryana, Rajasthan, Delhi & Rajasthan.

---

\* Compiled from the type-script of STEERING THE WHEEL OF DHAMMA.

## 200 YEARS OF TERAPANTH

On Asadh Purnima Vikram Samvat 2017 (1960 A.D.) Terapanth completed 200 years of its existence. The history of these two hundred years has been one of struggles, events and remarkable progress. History tells us that truth is opposed at the outset, as ordinary people cannot grasp it but with the passage of time they come to appreciate it. Thereafter truth becomes the guiding beacon of their lives. That is exactly what happened in the case of Terapanth. During his life-time, Acharya Bhikshugani had to face much opposition. During one of the rainy seasons he was exiled from a town with the help of a kingly authority. He had to face opposition in various other ways also. But gradually truth asserted itself and people began to be impressed with the spirit of forgiveness, penance and self-restraint of Acharya Shri Bhikshugani. Respect for him increased everywhere in Rajasthan. Even the Rajas and Maharajas began to show reverence to the Acharya of Terapanth and his follower-monks. This opposition became one of the main reasons for the progress of Terapanth. In the beginning the monks were 13 in number. The number at one point of time came down to 6. After the lapse of 200 years, the number of monks and nuns has today reached the figure of about 650. The lay-followers (Shrawaks) are to be found in Gujerat, Maharastra, Punjab, Rajasthan, Uttar Pradesh, Bihar, Bengal, Madhya Pradesh, Andhra, Madras, Mysore and in other parts of India as well.

During the last 10 years, the Terapanth religious order by rendering service through the medium of Anuvrat movement has attracted the attention of the entire country. State authorities, philosophers and scholars of India have spoken in very high terms about the organisational strength and practices of Terapanth. The prominent amongst them are President Dr. Rajendra Prasad, Prime Minister Sri Jawaharlal Nehru, Vice-President Dr. S. Radhakrishnan, Founder of Bhoodan Movement Acharya Vinoba Bhave and the exponent of Sarvodaya ideology Shri Jai Prakash Narayan. Many philosophers and scholars in Germany, England and United States, have familiarised themselves with Terapanth and have been much impressed by it. Amongst them the names of late Dr. Herman Jacobi of Germany and General Luther Evans, Director General of UNESCO deserve mention.

## A SURVEY OF PRĀKRIT AND JAINA STUDIES IN INDIA AND OUTSIDE

□ *Dr. Bhagchandra Jain 'Bhaskar'*

Prākṛit was a dialect of ancient days which had been used mainly by Jain thinkers since inception for preaching and its compilation. Tīrthaṅkar Mahāvīra delivered his sermons in this dialect which were largely compiled by his followers after quite sometimes. The modern scholars made laudable efforts for making them available to the public. It is actually very difficult task to carry out a complete and satisfactory survey of Prakrit studies in India and outside as a great progress has been made in the field during these years. Here what can be done is to refer to the more important works done in the field of different branches, viz. Catalogues, Jaina Āgama literature, Kāvya, Dramas, Śatakas, Caritas, Kathās, Linguistics etc, which may help the research scholars.

### **History of Jainism**

In France, Jainism constantly aroused a great interest among the scholars practically in all the branches. A valuable catalogue of Jaina epigraphy, with a "sketch" of the history of Jainism according to the inscriptions, has been edited by A. Guerinot as early as 1908. His another contribution is the "Essai de bibliographie Jaina, Repertoire analytique et methodique des travaux relatifs a Jainisme" (1906, items no. 1-852) followed by valuable indices containing 852 entries. This study lists all books and journal articles published until the end of 1905; it has been supplemented by the same scholar in the *Journal Asiatique* (X 11, 1909, p. 417-448) "Notes de bibliographie Jaina" where the works published from 1906 to the end of 1908 are listed (items no. 853-1145). Moreover, in many later issues of the same journal, Guerinot gave bibliographical notes and various new facts concerning the projects and activities of the Jaina community. His last book, written in French, is a very clear general exposition of Religion djaina. *Histoire Doctrine culte, Coutumes, Institutions* (1926, with twentyfive fine plates.).

The next detailed treatment of the subject is made by L. Renou and D. Lacombe, in "L'Inde classique. Manuel des etudes Indiennes 2 (1953, P. 609-664; sources, history of the Church, rites and customs by L. Renou, 2387-2433; doctrines by O. Lacombe, 2455-2492;

logic, Siddhasena Divākara by J. Fillozant, 2493 f.). Since then articles on Jainism have been published in several encyclopaedias (Encyclopaedia Universalis, Encyclopedie de in pleiade, Histoire des religions, I, P. 1105-1145, translated into English and printed in India, in the booklet by C Caillat, A.N.Upadhye, B.Patel, Jainism, 1974).

It may be noted that in early days of 19th century, most of the authors of France and Germany pointed out the basis of similarities between Jainism and Buddhism (Burnouf, Senart, S. Levi). Hence, the question of their mutual relationship has been much debated (Barth). On the other hand, the fundamental Indian character of the two systems has also been emphasised, and the connections, the possible links between these and Brahmanism have been pointed out. Thus, though the importance of Jainism was in no way ignored (cf. the collection of manuscripts assembled by Senart, Journal Asiatique, 1936, P. 127-143), the comparative approach appears to have always fascinated the French scholars, among whom are some of the most brilliant e.g. Sylvain Levi (Religions of India, 1953, P. 111-133).

Madame Colette Caillat further pointed out that also the histories of Indian philosophy often choose to present together to compare and oppose, the Jainas and Buddhist tenets (P. Masson-Oursel, Histoire de la philosophie indienne, 1923, part 3 and 7; the same in L'Inde antique et la civilisation Indienne, 1933, part 3, chapter 2). Moreover, various monographs jointly use the data supplied by the Scriptures of both Communities (L. Silburn, Instant et cause. Le discontinu dans la pensee philosophique de l'Inde, chapter 4).

As regards the refinement of Jaina art, it was described and appreciated by Guerinot and Milloué already in the brief catalogues of both the Guimet Museums (of Lyon and Paris), as it has also been portrayed in the well-known publications of Jouveau-Dubreuil concerning south Indian history and archaeology, and, more recently, in several art books. (Jaina Studies in France, 1980).

The German scholar H. Jacobi (1850-1937) is the first disciple of Weber who studied the Jaina Scripture and translated the Ācārāṅga, Sūtrakṛtāṅga, Uttarādhyayana and Kalpasūtra in English published under the Sacred Books of the East Series. On the basis of Pāli and Buddhist literature, he proved that Jainism was in existence earlier than Buddhism. His students Schubring, Irtal, Alsdorf and others have followed his footsteps and worked on Jainism a lot.

The French scholars Renou and Mme paid a visit to Rajaldesar (Bikaner) in 1949, Then Renou had written a paper on the Terapanthi

sect (*Une secte religieuse dans l'Inde contemporaine*”, *Etudes*, mars 1951, p. 343-351) and showed his interest in Jainism.

## 2. Important Catalogues of Prakrit Literature.

Catalogues are the wealth of information for scholars on the basis of which they try to point out different aspects of culture of the particular period. It is perhaps Buhler who published the first catalogue of Sanskrit and Prakrit Mss<sup>1</sup>. (Wien, 1881). Peterson then gave four detailed reports of operations in search of Sanskrit Mss. in the Bombay Circle between 1882 to 1894 in which he referred to the works as Kumārapālapratibodha, Paumacariya<sup>2</sup>, etc. Likewise, R. G. Bhandarakara's "Report on the search for Sanskrit Manuscripts in the Bombay Presidency during the year 1882-83"<sup>3</sup>, G. Buhler's "Two Lists of Sanskrit Mss. together with some remarks on my connection with the search for Sanskrit Mss."<sup>4</sup>, A Weber's *Verzeichniss des Sanskrit und Prākrit Handschriften der königlichen Bibliothek zu Berlin*<sup>5</sup>, A Th. Aufrecht's "Florentine Sanskrit Manuscripts examined"<sup>6</sup>, Palle's "The Florentine Jaina Manuscripts,"<sup>7</sup> Leumann's "A List of the Strassburg collection of Digambaras Manuscripts"<sup>8</sup>, etc. may be referred here which pave the way for the researches. Buhler rightly emphasizes the importance of Jaina literature after having a perspective at its descriptive catalogues saying that—

"In a grammar, in astronomy as well as in all branches of belles letters, the achievements of the Jainas have been so great that even their opponents have taken notice of them and that some of their works are of importance for European science even to-day. In the south of India where they have worked among the Dravidian peoples, they have also promoted the development of these languages. The Kanarese, Tamil and Telugu literary languages rest on the foundations created by the Jaina monks. Though this activity has led them far away from their own particular aims, yet it has secured for them an important place in the history of Indian literature and civilization."<sup>9</sup>

Systematic efforts have been made to preserve the hand written Mss. at several centres like Madras, Calcutta, Benaras, Baroda, Ahmedabad, Jaipur, Jaisalmer, Mysore, Tanjore, Pattan, Poona etc. The Government also showed a keen interest to protect the valuable material by giving splendid help in the form of financial assistance. Under the auspices of the Ministry of Scientific Research and Cultural affairs, Government of India, a seminar on Manuscriptology and textual criticism headed by Dr. P. L. Vaidya was held at Bangalore in

1963 with a view to impart a practical instruction in the methodology of textual criticism with special reference to Indian texts. Such types of seminars are undoubtedly very useful to generate a keen interest among the scholars in use of the Mss. for the editing work.

A number of catalogues have been published from time to time. For instance, a list of Sanskrit, Jaina and Hindi Mss. purchased by order of Government and deposited in the Sanskrit College, Benaras, during 1897-98-1900 and 1901 was published from Allahabad in 1902, Catalogue of Sanskrit Mss. in the Sanskrit College Library, Benaras<sup>10</sup>, Alphabetical Index of Mss. in the Government Oriental Mss. Library, Madras<sup>11</sup>, List of Sanskrit, Jaina, and Hindi Mss. deposited in the Sanskrit College, Benaras during 1902<sup>12</sup>, Catalogue of Sanskrit and Prakrit Mss. in the Bombay Asiatic Society and Catalogue of Sanskrit and Prakrit Mss. in the Bombay University Library<sup>13</sup> may be mentioned here. Prof. H. D. Velankar prepared The Jinaratnakosh which is an alphabetical register of Jaina work and authors. The University of Madras is preparing a New Catalogue Catalogorum under the guidance of Dr. V. Raghvan. Its two volumes have already been published which give a detailed information about the works and their authors. It is certainly more comprehensive than the Catalogorum of Aufrecht.

As a result of Government patronage and keen interest of social institutions and public libraries, a large collection of Mss. from the temples and private sources<sup>14</sup> have been made and their descriptive catalogues have been published by institutions like Jaipur (Mahavira Bhavana), Ahmedabad (L. D. Institute of Indology), Jodhpur (Rajasthan Oriental Research Institute), Poona (Bhandarkar Oriental Reserch Institute). Muni Shri Punyavijayaji's collection in two volumes and Kannad Prāntiya Tāḍapatriya Granthasuchī (Bharatiya Jnanapitha, Kashi) are also important. All these catalogues bring to light the Prakrit Mss. published or unpublished for the scholars. Some more catalogues have also been recently published by the Rajasthan University, Jaipur.

### 3. Publication of Jaina Canonical Works. : Aṅgas

Jaina Canonical works are divided into Svetambar and Digambara Canonical works. Both the sects accept unanimously that Mahavira or the Nigantha Nataputta is the main source of their scriptures, which are said to have been collected by his disciple called Indrabhuti or Gautama.

Jaina literature attracted first the Western scholars like Buhler, Keilhorn, Jacobi, Weber, Leumann, Peterson etc. and they critically



studied it with different views.

Dvādaśāṅgas or Gaṇiṭṭakas are the oldest Jaina literature. The last Aṅga is said to be destroyed and therefore only eleven Aṅgas remain to be studied.

Āyārāṅga, the first text of the Jaina Canon, was critically edited by H. Jacobi with an introduction and published by the Pāli Text Society, London in 1882. Its first Śrutaskandha was issued by W. Schubring with careful edition in 1910. The same text was reproduced in Deonāgarī by Muni Jinavijayaji<sup>15</sup>. In 1935, the Āyārāṅga with the Nirukti of Bhadrabāhusūri and a commentary of Śīlaṅka was published by Āgamodaya Samiti, Bombay and the Cūrṇi of Jinadāsagaṇimahattara appeared from Ṛṣabhadeva Kesarimala Sveta-mbara Saṁstha, Ratlam in 1941. A number of other editions have also come out into light.

The Sūyagaḍaṅga or Suyagadam, the second text of the Aṅga was edited by Manika Bhimasingh and with the Nirukti and Ṭikā of Śīlaṅka appeared from Āgamodaya Samiti, Bombay in 1917. The Cūrṇi is issued by Rsabhadeo K. Saṁstha, Ratlam in 1941. Its new edition was then prepared by Muni Punyavijayaji. In 1928, Dr. P. L. Vaidya also edited the Sūyagaḍaṅga with the Nirukti. Pandit Ambikadatta edited and translated into Hindi with Śīlaṅka's ṭikā<sup>16</sup>. All these editions do not give the detailed introduction which is essential for attracting the scholars.

Thāṇāṅga, the third text of the Āgama, is commented upon by Abhayadevasūri which was edited by Maphatalal Jhaverachandra<sup>17</sup>. With the Gujarati translatsan, it was published from Benaras in 1880. This text also requires a critical edition.

Samavāyāṅga describes the subject matter of twelve Aṅgas and fourteen Pūrvas. It also mentions eighteen types of Brāhmī script. This text was published from Ahmedabad in 1938. Prof. Malvaniya published both the texts Thāṇāṅga and Samavāyāṅga with Gujarati translation. Munishri Kanhaiyalal Kamal has recently issued the Samavāyāṅga with an introduction, Hindi translation and appendices, but without word index.

Viyāhapaṇṇatti or the Bhagavatīśūtra, the fifth Aṅga, deals with the philosophical questions in a questionnaire method. It is the first Aṅga which attracted the Western scholars like A. Weber who published it as "A Fragment der Bhagavatī"<sup>18</sup>. Another edition with Abhayadeva's commentary appeared from Varanasi in 1882 and from Bombay in 1921. Under the editorship of Pt. Becharadas Dosi and Bhagavan Das, Jīaṅgama Prachar Sabha published it in four

volumes with Gujarāṭī translation<sup>19</sup>. It has an Avacūrṇī and Laghuvṛtti of Dānaṣekhara which are published by Muni Shri Punyavijayaji. This text has a great importance from the linguistic point of view.

Nāyādhammakahāo contains the religious stories of Mahāvira in nineteen chapters, published with Abhayadeva's commentary from Calcutta in 1876, and another edition from the same place appeared in 1897. P. Steinthal also published the Nāyādhammakahāo<sup>21</sup>. Then N. B. Vaidya made a critical edition but it is not so comprehensive<sup>22</sup>.

Uvāsagadasāo describes the conduct of ten devotees of Mahāvira. It was first published with Abhayadeva's commentary from Calcutta in 1876. Better edition was issued in the original Prakrit with Sanskrit commentary of Abhayadeva and translated with copious notes by M.R. Hoernle in two volumes<sup>23</sup>. Another edition was issued by the Āgamodaya Samiti<sup>24</sup> and the next edition was prepared by Dr. P. L. Vaidya<sup>25</sup>. Dr. Indrachandra Śāstri edited recently the text and published with an comprehensive introduction and Hindi translation of Āchārya Atmaramji<sup>26</sup>.

Antagaḍadasāo deals with stories of Arhantas in a current method. Its first edition was made available from Calcutta in 1875 and the next edition with English translation and Anuttarovavāiyadasāo was prepared by Royal Asiatic Society, London, in 1907. Some other editions are also available, e. g. P. L. Vaidya's edition (Poona, 1932), P. K. Modi's translation, Rajakota's publication<sup>27</sup>, with a Gujarati translation, etc.

The edition of Paṇhāvāgarāṇaim with Abhayadeva's commentary<sup>28</sup>, A critical introduction to the Paṇhāvāgarāṇaim of Amulyachandra Sena<sup>29</sup>, Vivāgasuya with Abhayadeva's commentary<sup>30</sup>. Its another edition with Hindi translation of Acharya Atmanandaji<sup>31</sup>, English translation of the same text by A. N. Upadhye<sup>32</sup> may also be mentioned here.

After this, so many editions of the Aṅgas have come out from different institutions along with exhaustive introductions. For instance, Jain Vishva Bharati, Ladnun, Prakrit Bharati Jaipur, L. D. Institute of Indology, Ahmedabad, Jain Bhavan, Calcutta, Parsvanath Vidyashram, Varanasi, and other institutions of Udaipur, Jaipur etc.

#### 4. Publication of Upāṅgas:

Upāṅgas are also important from point of view of Indian culture. Of these, the Uvavāiya, first among the Upāṅgas, was edited by

Evan Leumann with text and glossary<sup>33</sup>. Other editions of this Upāṅga, are prepared by Āgamodaya Samiti, Bhavnagara, Bhuralal Kalidas<sup>34</sup>, Sve. Sthankavasi Jaina Śastroddhara Samiti<sup>35</sup>, N. G. Suru<sup>36</sup> and so on.

Rāyapaseṇiya with the commentary of Malayagiri was published from Calcutta in 1880 which followed the Āgamodaya Samiti's edition (1925) Bacharadas Doshi's edition with Gujarati translation, N. B. Vaidya's edition<sup>36</sup>, and P. L. Vaidya's edition (Only second part).

Other Upāṅgas have been published from time to time, e. g, Jivā-jivābhigama with Malayagiri's commentary<sup>37</sup>, Rayadhanapati Singh Bahadur<sup>38</sup>, Paṇṇavaṇā of Āryaśyāma with Malayagiri's commentary<sup>39</sup>, edited by Pt. Bhagwanadas Harsachandra<sup>41</sup>. Its new edition with original text and Gujarati translation<sup>41</sup>. Its another commentary named Pradeshavṛkhyā by Haribhadra Suri<sup>42</sup>. On the Sūryaprajñapti, an astronomical work, A. Weber wrote an article "Uber die Sūryaprajñapti"<sup>43</sup> and so also did G. Thibaut<sup>41</sup>. It was then edited with text in comparison with that of Jambūdvīpaprajñapti by J. N. Kohl (Stuttgart, 1937). and with Malayagiri's commentary, it was published by the Āgamodaya Samiti<sup>45</sup>. A brief translation of Mahāvīras' Sūryaprajñapti was issued by Dr. R. Sham Shastri. Jambūdvīpaprajñapti was commented upon by Dharma Sāgaropādhyāya, Punyasāgaropādhyāya, Śāntichandra Vācaka, and Brahmarsi. With Śāntichandra's commentary it was published by Devachand Lalabhai Granthamala<sup>46</sup>. Chandraprajñapti with Malayagiri's commentary was issued by Prof. Gopani and Chaukasi<sup>47</sup>. The last five Upāṅgas—Niryāvalīya or Kappiya, Kappavaḍamsiyā, Pupphiyā, Pupphacūliyā and Vaṇhidasā with commentaries of Śricandrasūri have been collectively edited by Dr. P. L. Vaidya<sup>48</sup>. S. J. W. Warren's treatise "Niryāvalīyasuttam een Upanga der Jaina's"<sup>49</sup>—carries importance from the point of view of a critical study.

### 5. Publication of Dasapañṇagas.

Prakīrṇakas are said to have been written by Śramaṇas after hearing Mahāvīra's Dharmadeśanā. During the period of Mahāvīra, the number of Prakīrṇakas are referred to be 14000, but at present only ten are available with us. Causaraṇa, Āurapaccakkhāṇa, Mahāpaccakkhāṇa Bhattapariṇṇaya, Tandulavṇyāliya, Santhāraga, Gacchāyāra Gaṇivijjā, Devindathaya and Maraṇasamāhī, all these Prakīrṇakas are published by the Āgamodaya samiti in 1927. Some other Prakīrṇakas are also written by the Ācharyas<sup>50</sup>. Of these, the Titthogāliyaḥṇā, Ajivakalpa, Siddhapāhuḍa<sup>51</sup>, Ārādhanaḥṇā,

Dvīpasāgara Prajñāpti, Joisakaraṇḍaga, Angavijjā, Piṇḍavisohi, Tithi prakīrṇaka, Pajjantārāhaṇā, Jīva Vibhakti, Kavaca Prakaraṇa and Joṇipāhuḍa are more important than others. Most of these Prakaraṇas are not well edited.

## 6. Publication of Chedasūtras.

Chedasūtras deal with the rules and regulations for the Jaina monks in brief. They are six in numbers, e. g. Nisīha, Mahānisīha, Vavahāra, Dasāsuyakkhandha. Kappa (vṛhatkalpa) and Pañcakappa. The Nisīha is the most important chedasūtra with regard to the cultural material. With the Niryukti, Bhāṣya and Cūrṇi, it was edited by Upadhyaya Amara Muni and Kanhaiyalal Kamal and published in four volumes by Sanmati Jñāna-pitha, Agra in 1957-60. A critical introduction entitled "Nishitha : eka Adhyayana" was written by Prof. Dalasukha Malavaniya. Mahānisīha was edited by Dr. Walther Schubring with a brief introduction<sup>56</sup>. Vavahāra with Bhāṣya and Malayagiri's commentary was issued from Bhavanagara in 1926. Colette Caillat edited it in three volumes with text, translation and commentaries (France). Kappa, Vavāhara and Nisīha were collectively edited by W. Schubring<sup>57</sup>. Dasasuyakkhandha was for the first time critically edited by H. Jacobi. (Leipzig, 1879) and its English translation also appeared in the Sacred Books of the East, Vol. 22. Further it was published with Samayasundaragañi's ṭīkā from Bombay in 1939 and with Hindī and Gujarati translation from Rajakot in 1958.

Kalpasūtra or Vṛhatkalpsūtra of Bhadrabāhu was commented upon by Saṅghadāsagani Kshamāṣramaṇa, Malayagiri, Kshemakīrti-isūri and so on. It was edited by H. Jacobi (Leipzig). Further J. Stevenson issued another edition of the Kalpasūtra and Navatattva, two works illustrated of the Jaina religion and philosophy and translated from the Māgadhī into English (London, 1848). W. Schubring has also studied "Das Kalpasūtra, die alte Sammlung zinistischer Monchschriften (Leipzig, 1905). Some other editions are also issued, e. g. Suri Rajendra's "Kalpasūtrasya Bālāva-bodha (Bombay, 1888), Kavi Ramachandra's Kalpasūtra (Lucknow, 1925, Calcutta, 1887), Munisri Punyavijaya's Kalpasūtra<sup>58</sup>, Kalpasūtra with Vinayavijayopādhyāya's Subodhikākhyavṛtti, etc. Muni Chaturvijaya and Punyavijayaji edited the Vṛhatkalpasūtra with a commentary begun by Ācārya Malayagiri and completed by Ācārya Ksemakīrti in six volumes<sup>59</sup>. Pañcakappa and Jiyakappasutta are edited by Muni Punyavijayaji<sup>61</sup>. Jiyasutta further edited with the cūrṇi and ṭīkā by Muni Jinavijayji.

### 7. Publication of Mūlasūtras :

The Mūlasūtras deal with the original rules and regulations of Jaina monks. The Uttarādhyayana was commented upon by Bhadrabāhu, Jinadāsagaṇi Mahattara<sup>63</sup>, Śāntisūri<sup>64</sup>, Nemichandra Sūri<sup>65</sup>, Lakṣmīvallabha Jayakīrti, Kamalasaṃyama, Bhāvavijaya, Vinaya-haṃsa, Harṣakūla, etc. This text was edited and translated into English with comprehensive introduction by H. Jacobi<sup>66</sup>. It was re-edited with Hindī and Gujarātī translation and published from Rajkota, in 1959. J. Charpentier issued another edition with large introduction and comperative notes (Upsala, 1914.). Some other editions may also be mentioned here, e.g. R.D. Vedkar and N. V. Vaidya's edition (Poona), Vijayomangasuri's edition (Ahmedabad, 1937), Atmaramaji.edition (Lahore, 1939), etc.

Āvassaya was commented upon by Bhadrabāhu, Jinabhadragaṇi (Viśeṣāvaśyakabhāṣya), Jinadāsagaṇimahattara<sup>67</sup>, Haribhadrasūri, Malayagiri<sup>68</sup>, Māṅkyaśekharasūri<sup>69</sup>, and Tilakācārya. E. Leumann made a good study on the Āvaśyakasūtra and its commentaries. He published the first part of Āvaśyaka Literature (Hamburg, 1934). The awaited second part was never published. Along with commentary of Malayagiri, the Āvaśyakasūtra appeared from Bombay (Agamodaya Samiti, 1928) in two volumes and with the Hindi and Gujarati translation, it was published from Rajkot in 1958.

Dasaveyāliya of Śayyambhava was commented upon by Bhadrabāhu (Niryukti), Agastyasingh (Cūrṇi), Jinadāsagaṇimahattara<sup>70</sup> (Cūrṇi), and Haribhadrasūri (Ṭika), Tilakācārya, Sumatisūri and Vinayahaṃsa (Vṛttis). Dasaveyāliya with Niryukti was for the first time edited with a critical introduction by Leumann<sup>71</sup>. Further it was edited by the same scholar and translated by Walter Schubring and published from Ahmedabad in 1932. Dr. A.M. Ghatage made a critical study of the Ācārāṅga and Dasaveyāliya<sup>72</sup>.

Piṇḍaniryukti of Bhadrabāhu was explained by Malayagiri (Vṛhadvṛtti) and Virācārya (Laghuvṛtti). Oghanijjutti of Bhadrabāhu<sup>75</sup> was commented upon by Droṇācārya<sup>76</sup> (vṛtti) and Malayagiri (vṛtti) and, pakkhiyasutta,<sup>77</sup> Vandittusutta<sup>78</sup> Isibhāsiya, Nandi of Devavācaka was commented upon by Jinadāsagaṇimahattara<sup>80</sup> (cūrṇi), Haribhadra and Malayagiri (vṛtti). With Haribhadra's ṭikā, it was published from Bombay in 1924. Its another edition with Sanskrit chāyā. padārtha, bhāvārtha, and Hindi translation was made by Atmaramji (Ludhiyana, 1966). The Anuyogadvāra of Āryarakṣita with Haribhadra suri's ṭikā was issued from Ratlam in 1928 and from Bhavangar, in 1936. It has commentaries of Jinadāsagaṇimahattar (curni), Haribhadra's and Hemchandra's ṭik .

During these years, the Ph. D. scholars worked on the Ācārāṅga, Sūtrakṛtāṅga, Nāyādhammakahāo, Uvāsagadasāo, Antagaḍadasāo, Paṅhāvāgarāṇaim, Niśīha, Vavahāra, Dasaveyāliya, Kalpa sūtra, Uttarādhyayana etc. The Cūrṇis, Bhāṣyas and Ṭikās could not be taken up much so far.

### 8. Publication of Śaurasenī Āgama literature :

Ardhamāgadhi Canonical literature belongs to Śvetāmbaras while the Śaurasenī Canonical literature to Digambaras, who believe that the Canon as preached by Mahāvira is no longer available as it was lost during the famine. But they have preserved in their early works, written by the ancient Ācāryas, detailed accounts of the structure and the contents of their Canon. According to such accounts, the Digambaras' Canonical literature is divided into two groups : Aṅgapraviṣṭa and Aṅgabāhya<sup>81</sup>.

Out of these,<sup>82</sup> Puṣpadanta and Bhūtavalī wrote fortunately a joint work named Ṣaṭkhaṇḍāgama of which Puṣpadanta wrote the earlier portion and Bhūtavalī the latter. The Ṣaṭkhaṇḍāgama is said to have been commented upon by Kundakundācārya (parikarma), Śāmakunḍa (paddhari), Tumbulūrācārya (cūḍamaṇi), Samantabhadra-chārya (ṭikā) and Vappadevaguru (vyākhyāprajñapti). These commentaries are unfortunately not available at present. The most important commentary is Dhavalā by Virasena.

The Ṣaṭkhaṇḍāgama which is divided into six chapters—Jivaṭṭhāṇa, Kuddābandh Bandhasāmittavicaya, Vedanā, Vaggaṇā and Mahābandha—is edited by Dr. Hiralal Jain and published by Seth Shitavaraya Laxmichand Jaina Sahityodharaka Fund, Amaravati, 1939—1958 in sixteen volumes with comprehensive introduction and Hindi translation. The Mahābandha or Mahādhavalā is commented upon by Virasena which is written in Prakrit mixed Sanskrit. It is published in seven volumes with Hindi translation by Bhartiya Jñāna-piṭha, kashi (1947-1958).

Kasāyapāhuḍa or Pejadosapāhuḍa is written by Āchārya Guṇadhara on the basis of the third Pejadosapāhuḍa of the tenth Vastu of the fifth Jñānapravādapūrva. Yativṛṣabha prepared a cūrṇi containing six thousand Prakrit verses on which the Uccāraṇācārya wrote the twelve thousand Uccāraṇāsūtras that are not available. On the basis of original gāthāsūtras and Yativṛṣabha's cūrṇisūtras, Virasena prepared a commentary named Jayadhavalā which was completed by Āchārya Jinasena. It is critically edited with all commentaries by Pt. Phulchandji, Mahendrakumarji, and Kailashchandji in twelve volumes.<sup>83</sup> These works deal with the Karma

philosophy, but the language has its own importance from the linguistic point of view.

Āchārya Kundkunda was a great scholar and thinker of the first Century B. C. who produced a number of granthas, e. g. Pañcāstikāya Pravacanasāra, Samayasāra, Niyamasāra etc. Pañcāstikāya has two Sanskrit commentaries of Amrtachandrasūri and Jayasena which was published from Bombay in 1904. Another edition with English introduction and translation of Prof. A. Chakrvarti was published from Arrah in 1920. Pravacanasāra was edited with detailed introduction dealing with date, author, subject-matter, English translation, word index etc. by Dr. A.N. Upadhye.<sup>84</sup> Samayasāra with Sanskrit commentaries of Amrtachandra and Jayasena was issued from Bombay,<sup>85</sup> Lucknow,<sup>85</sup> Varanasi<sup>86</sup> and Sonagarh.<sup>87</sup> Niyamasāra was commented upon by Padmaprabhamaladhārīdeva in Sanskrit, which was published by Jaina Grantha Ratnākara Kāryālaya, Bombay in 1916 with Hindi translation of B. Shitalprasadji, Pt. Pannalala Soni edited Śatpāhuḍas of Kundkunda including Damsaṇa, Caritta, Sutta, Bodha, Bhāva, Mokkha, Liṅga, and Silapāhuḍa, Rayaṇasāra, and Anuvekkhā, without detailed introduction.

Tiloyapaṇṇatti of Yativṛṣabha was critically edited by Dr. A. N. Upadhye and Hiralal Jain with Hindi translation. Prof. Laxmichandra Jain has given a detailed introduction dealing with mainly mathematical problems which guide for further researches in the field.<sup>89</sup>

Bhagawatī Ārādhanā of Śivakoṭi was for the first time issued from Anantakīrti Dig. Jaina Granthamala (Samvat, 1989) and the second edition with commentaries of Āśādhara and Aparājitasūri and Hindi translation appeared from Sholapur in 1935. A number of other commentaries are also mentioned in other literature.<sup>90</sup> A good critical edition is still required. Mūlācāra of Vaṭṭakera deals with the rules and regulations of Digambar Jain monks.<sup>91</sup> It was published from Manikchandra Jaina Grathamala, Bombay in two volumes (Samvat, 1977-1980) and translated into Hindi by Jinadas Shastri. Both the editions are not satisfactory. Kattigeyānuvekkhā of Kārtikeya was commented upon by Śubhachand. It was for the first time issued with Jayachand's Hindi ṭikā from Gandhi Natharanga (Bombay, 1904). Another edition is available from Pāṭani Granthamālā. Dr. A.N. Upadhye also edited with introduction dealing date, author etc and Hindi translation.

Nemichandra Siddhāntacakravarti wrote a number of granthas dealing with Jain Karma philosophy. Gommaṭasāra (Jivakāṇḍa and Karmakāṇḍa) was commented upon by Cāmuṇḍarāya, Kesavavarṇi,

Abhayachandra and Toḍarmal. This text was issued for the first time with Hindi translation from Rayachand Granthamala (Bombay, 1927-1935) in two volumes. J.L. Jaini translated it into English (S.B.J. Arrah). Trilokasāra (Gandhi Natharanga, Bombay, 1911), Labdhisāra (R. Jain Shastramala, Bombay, 1916) and Dravyasaṅgraha (Ghosal's English Translation, SBJ., Arrah, 1917) have also been published but as a matter of fact no edition is satisfactory.

Some other Digambara literature has been published from time to time, e.g. Jambuddīvapaṇṇattisaṅgaha (Edited by Dr. A. N. Upadhye and Hiralal Jain, Sholapur, 1958), Pañcasaṅgraha (Kashi), Karmaprakṛiti (Kashi, Edited by Hiralal), Laghunayacakra (Manikācandra Granthamala, 1920) Ārādhanāsāra of Ratnakīrti (ibid, Samvat, 1974), Tattvasāra (ibid, 1977), Darśanasāra of Devasenasūri (Jain G. R. Karyalaya, Edited by Premiji), Bhavasāṅgraha (M. G. Bombay, 1978), Vrahnnayacakra of Mailladhavalā (ibid, 1920), Jñānasāra of Padmanandī (ibid, 1977), Vasunandī Śrāvākācāra (Kashi, 1950, edited by Hiralal), Śrutaskandha of Hemachandra (M.G., 1977), Bhāvatribhāṅgī of Śrutamuni (ibid, 1978), Siddhāntasāra of Jinachand (ibid, 1978), etc. Most of these editions are not carefully edited and they are also not given critical introductions and translations. Some Ph. D. scholars have, of course, worked on Umasvami, Kundkunda, Samantabhadra, Siddhasena Divakara, Akalaṅka, Vidyananda, Prabhachandra, Jinasena, Somedeva, Jatasimhanandī, Amrtachandra, Asadhara, Haricander, etc.

### 9. Studies in Prākṛit Inscriptions :

Most of the Prakrit inscription so far discovered belong to the first millennium A. D. They play an important role to carry out a development of Indian language and literature. With this view a fresh study requires to create some new points, in Indian History and culture. King Khāvela's Hāthīgumphā inscription, Pulumāvi's Nasik Cave inscription, Kakkul's Ghatayālā stone inscription, etc. may be mentioned here. Detailed study is yet to be made in this respect.

### 10. Studies in Prākṛit Mahākāvya :

Setubandha of Pravarasena is perhaps the best Mahākāvya written in Mahārāshṭrī Prākṛit. It was commented upon by Rāmadās (Samvat, 1652). It is Hofer who worked for the first time on Setubandh in 1846. Then Poll Goldsmith published a book entitled "Specimen des Setubanddha (Goetingen, 1873) which was translated by J. Goldsmith into German (Stressberg 1880). On the basis of the same edition, Shivadatt and Parab published it with Rāmadāsa's



commentary (Kāvya-mālā, 1895). Another edition was issued from Nirnaya Sagara Press (Bombay, 1935) and its Hindi translation has also recently come out.

Gauḍavaho of Vākpatirāja was published for the first time with Haripala's commentary by Pandurang Pandit (Bombay, 1887) which was reedited and published by Bhandarkar Oriental Research Institute in 1927. Its Hindi translation is also now available. Kumārapalācārīta or Prākṛit Dvaśraya of Hemachandra which was written with a view to illustrate the eighth chapter of Siddha-Hemachandra or Prākṛit Vyākaraṇa, was edited with a commentary of Pūrṇakalaśagaṇi by Pandit Shankar Pāṇḍuraṅga (Bombay, 1900). Its second edition was revised by P. L. Vaidya with an introduction (BORI, Poona, 1936). Līlavai of Kouhal is edited by Dr. A. N. Upadhye and published by Singhi Jaina Granthamala (Bombay, 1949). Siricindhakavva or Govindādhiṣeka of Kṛṣṇalīāsuka was commented upon by Durgaprasad Yati in Sanskrit. Its first chapter was issued by Dr. A. N. Upadhye (Bharatiya Vidya, 3.1.) Soricarita of Śrīkaṇṭha was also edited by him (only first chapter).<sup>92</sup>

### 11. Studies in Prākṛit Khaṇḍakāvya :

Kansavaho of Ramapāṇivāda in Mahārāṣṭrī Prākṛit was issued by Dr. A. N. Upadhye and Usāniruddha<sup>93</sup> of the same writer edited by Kunhan Raja.<sup>94</sup> Bhṛṅgasandeśa of unknown writer is written on imitation of Meghadūta. Its six gāthās were published by Dr. A.N. Upadhye.<sup>95</sup>

### 12. Studies in Prākṛit Carita Kāvya :

Paumacariya of Vimalasūri deals with the Rāma's story. Jacobi edited it for the first time,<sup>96</sup> on the basis of which Shantilal Shah translated into Hindi and published from Prakrit Text Society (Varanasi, in two volumes). Muni Rajavijaya edited the Surasundarīcariya of Dhaneśvara Sūri (Varanasi, 1916) but its introduction does not cover the subject material. Some other Carita Kāvya have also been published, e. g. Supāsanāmbacariya of Lakṣmaṇagaṇi (Jaina Vividha Sastramala, Varanasi), Sudansaṅgacariya of Devendrasūri (Atmavallabha Grantha series, Ahmedabad, 1932), Jayantīprakaraṇa of Manatūṅgasuri (with Malayaprabhasūri's Vṛtti, (Manivijaya Granthamala, Samvat, 2006), Kaṇṭhacariya of Devendrasūri (Ratlam, 1930), Kummāputtacariya (edited by Prof. Abhyankar, Ahmedabad, 1933), Mahāvīracariya (Ahmedabad, 1945) and Pāsanāhacariya (Bombay, 1929), of Guṇacandraṅgaṇi, Rayaṅcūḍārāyācariya of Nemichandra (Ahmedabad, 1942), Jambucariya of Guṇapāla Muni (edited by Jinavijayaji, Singhi Jaina Granthamala, Bombay) etc.

### 13. Studies in Prākṛit Kathās :

Taraṅgavaikahā of Pādalipta is perhaps the oldest one kathā in Prakrit literature. Its brief form was compiled by Nemicandragani and edited and translated into German by Prof. Leumann. Narasinh Patel prepared its Gujarati translation (Amedabad, 1924). Vasudevahiṇḍi is divided into two parts which are written by Saṅghadāsagaṇi and Dharmadāsa Gaṇi respectively. Its incomplete form so far discovered is edited by Muni Punyaviijayaji (Atmananda, Jain Granth maḷa, Bhavanagara, 1930-31. This text is treasure for cultural material.

H. Jacobi edited Samarāiccakahā of Haribhadrasūri with a detailed introduction dealing with date, author, peculiarties etc.<sup>98</sup> On the basis of same Mss.. Bhagawāndas published it with Sanskrit chāyā (Ahmedabad, Vol. 1-2, 1938-1942). Prof. P. K. Modi and Gore also issued certain parts with English translation. Dhūrtākhyāna of the same author is edited by Dr. A. N Upadhye with critical introduction.<sup>99</sup> Kuvalayamālā of Udyodanasūri is also edited by Upadhye.<sup>100</sup> Its first part is covered with the text and second part which is expected to be dealt with a critical study is yet to be published.

Muni Kalyanavijayaji gave a detailed introduction to Prabhākarita in which he deals with Kālakāyariyakahāṇaya of Devachand.<sup>101</sup> Dr. Jacobi edited this text for the first time.<sup>102</sup> which was re-edited by Ambalal Premchand Shah.<sup>103</sup> Likewise, N. Bruhn's treatises "Story of Kalka", Umakanta Shah's "Suvarṇabhūmi men Kālakācārya, Leumann's "Zwei Weitere Kalka-Legenden"<sup>104</sup> may also be mentioned here. Kumārapālapadivoha of Somaprabhasūri was edited by Muni Jinavijayaji<sup>105</sup> and its Gujarati translation published from Atmananda Sabha (Samvat, 1983). Some other Prākṛit Kathās have been published during these years : Pājakahāsaṅgaha of unknown writer (Vijayanandasūri G., Bhavanagar, 1952), Jinadattākhyāna of Sumati sūri (Singhi J. G., 1953), Sirivālakahā of Ratnasekharasūri (V. Jivabhai Chaukasi, Ahmedabad, 1932), Rayaṇaseharikahā of Jinaharṣagaṇi (Atma. J. G., Samvat, 1974), Mahivālakahā of Vīradevagaṇi (Ahmedabad, Samvat, 1998), Kathakosaprakaraṇa of Jinesvarasūri, Saṁvegaraṅgasālā of Jinacandra (Singhi J. G.), Nāṇapañcarāṅkahā of Maheśvarasūri, Nammayasundarīkahā of Mahendrasūri (Singhi J. G. No. 48), Ākhyānakamaṇikosa of Nemicandra with its commentary by Amaradeva (Prakrit Text Society) etc.

### 14. Publication of Saṭṭakas :

A term Saṭṭaka is given to the Prakrit nāṭikas.<sup>106</sup> Karpūramanjari of Rājashekhara was edited for the first time by Sten konow with an

elaborate introduction.<sup>107</sup> Manamohana Ghosa re-edited it with giving some new points.<sup>108</sup> Rāmakumār Āchārya issued a new edition with Hindi translation and Sanskrit chāyā (Benaras, 1963). Candaleha of Rudradas<sup>109</sup> and Anandsundari of Ghanasyama<sup>110</sup> are edited by Dr. Upadhye with a critical introduction. Rambhajanari of Naya-chandra<sup>111</sup> and Singaramanjari of Visvesvara<sup>112</sup> have also been published.

### 15. Prakrit works dealing with philosophy, dogmatics and ethics of Jainism.

Viśeṣāvaśyakabhāṣya of Jnabhadragaṇi Kṣamāśramaṇa is really a treasure of Jainism which was published with Hemachandrasūri's commentary from Yaśovijaya J. Granthamālā (Benaras) and with Kotyācārya's commentary from R. K. Saṁstha (Ratlam, 1936). Pravacanasāroddhāra of Nemicandrasūri with Siddhasenasūri's commentary (D. L. J. Pustakodhāra, Bombay, 1922) and Vicāra-Prakaraṇa of Pradyumnasūri (Bhavangara, 1923) have also been studied.

Sammaipayaraṇa of Siddhasena Divākara has an importance from the point of view of Anekāntavāda. It was edited with Abhayadevasūri's commentary by Pt. Sukhalalji and Becharadasji<sup>113</sup>, and its Gujarati translation with explanatory notes and detailed introduction published from Punjibhai J. Granthamālā (1932). The English translation is also now available<sup>114</sup>. Dhammaparīkṣā of Haribhadrasūri<sup>115</sup>, Pravacanaparīkṣā of Dharmasāgar Uṛādhyāya<sup>116</sup> and Yuktīprabodhanatākā of Meghavijaya<sup>117</sup> are studied which deal with Jaina philosophy.

Jivasamāsa with vṛttis of Hemacandra and Śīlaṅka (Ratlam, 1927) Vinsativinsikā of Haribhadrasūri (Ahmedabad, 1932), Kammapayaḍi of Shivasharmā (Dadhoi, 1937), Pañcasaṅgraha of Pārsvasūri<sup>118</sup> etc. deal with Karma philosophy of Jainism. Sāvayadhammavihi of Haribhadrasūri (Bhavanagar, 1924), Dhammarayaṇapagaraṇa of Śāntisūri (ibid, Samvat, 1977), Dhammaparīkkhā of Yaśovijaya (Ahmedabad, 1922), Navatattvagāthāprakaraṇa (Bhavanagara, Samvat, 1969) Samayasāraprakaraṇa of Devananda (ibid, Samvat, 1971), Vidhimārgaprapā of Jinaprabhasūri (N.S., Bombay, 1941), Vividhārt-thakalpa of Jinaprabhasūri (Singhi J.G., 1934) etc. are also studied from different points of view. Most of these editions require revision in the light of new studies.

### 16. Prakrit Chanda literature.

Chanda granthas are also written in Prakrit languages. For instance, Vṛttajāṭisamuccaya of Birhanka and Kavidarpaṇa of

unknown writer, and Svayambhuchanda of Svayambhu are collectively edited by Pro. H.D. Velankar and published by the Singhi J. G., Bombay. With the edition of Kavidarpaṇa, the Nanditāḍya's Gathalakṣaṇa, Ratnaśekharasūri's Chandakośa, have also appeared. The Prakrit Paingalam of unknown writer with its commentaries entitled Pingalatīkā of Viśvanātha Pañcānana, Pingalaprakāśa of Bansidhara, Kṛṣṇīyavivarāṇa and Pingalatattvaprakāśikā of Yadavenda were edited by Chandramohan Ghosa (Asiatic Society of Bengal, Calcutta, 1902). Its revised edition with Hindi translation and exhaustive notes and Sanskrit commentaries is issued by Dr. Bholasankar Vyas<sup>119</sup>.

### 17. Prākṛit Lexicographical literature :

In the field of Lexicography, G. Buhler wrote a few articles like "On a Prakrit Glossar entitled Pāiyalacchi<sup>120</sup>" and "The author of the Pāiyalacchi<sup>121</sup>" and then he himself edited the work Paiyalacchi Nāmamālā : a Prakrit Kosa of Dhanapāla<sup>122</sup>. Under editorship of B. B. it was published by Gulabchand Lalubhai (Bhavanagar, 1975) and revised by Bechardas Dosi (Bombay). The Hemachandra's Deśīnāmamālā was edited with its commentary by R. Pischel<sup>123</sup> without giving word-index which was fulfilled by Banerji's edition<sup>124</sup>. Rāmanāgasvāmī prepared its second edition (Pocna, 1938). A great Encyclopaedia of Jainism and Prakrit called Abhidhāna Rājendra, is compiled by Vijayendrasuri<sup>125</sup>. Another work "Paiyasaddamaḥṇava" was compiled by Seth Haragovinddas in four volumes with Sanskrit equivalents, Hindi meanings along with references to the literature<sup>126</sup>. It was not available for the last fifteen years. Now the Prakrit Text Society, Varanasi has issued it in one volume.

Another monumental work is the Ardhamāgadhī Dictionary which is compiled by Ratnachadra in four volumes which contains meanings in Sanskrit, Gujarati, Hindi and English<sup>127</sup>. The present work is confined to the Canonical literature, but it deals with most of the technical terms in Jainism. The "Jaina Kakko" of Balabhi Chaganalal appeared from Ahmedabad in 1812 which comprised of Prakrit words with equivalents to Gujarati words. Likewise, the English Prakrit Dictionary was issued by H. R. Kapadiya (Surat, 1941).

### 18. Sanskrit Poetics containing Prākṛit verses :

Studies in poetics have great importance from the point of view of understanding the kāvyas which quote the verses from other works in support to their theories. Such verses have not unfortunately yet been critically edited. Most of the poetics describe the types of Prākṛit languages. Some valuable verses are also found

there. They need a critical edition with introduction dealing with the original sources, different readings, their peculiarities etc. Dr. Jagdeeshchand Jain has given all such Prakrit verses with Hindi translation as an appendix No. 2 to the Prakrit Sahitya ka Itihasa (Varanasi, 1961).

### 19. Prākṛit Astrological literature :

Astrology has a great place in the Prākṛit and Jaina works. Makkhali Gosāl is there referred to be a great astrologer. Āchārya Bhadrabāhu is called Nimittavettā in the Gacchācāravṛtti<sup>128</sup>. Dhara-sena and Āryakālaka are also said to be proficient in astrology.

Jayapāhuḍa of unknown writer which contains 378 verses is yet to be published. The Nimittaśāstra of Raiputra with Hindi translation is edited by Lalaram Shastri and published by V. P. Shastri (Sholapur, 1941). Aṅgavijjā is more important and comprehensive nimittaśāstra which is edited by Muni Punyavijjayaji with an introduction and detailed appendices. Joṇipāhuḍa of Dharasenāchārya has been mentioned in Dhavalāṭṭikā, Niśīthaviṣeṣacūrṇi, Prabhāvakacārita, Kuvalayamālā, etc. The manuscript has been collected by the BORI, Poona. Vaddhamāna Vijjākappa of Jinaprabh suri was issued with commentary by D. Mohokamalal (Ahmedabad). Karalakkhaṇa of an unknown writer is edited by P. K. Modi (Kashi, 1954). Riṣṭa-samuccaya of Durgadeva is edited by A. S. Goyani, Bombay, 1945. Some other works on astrology have also been published from time to time<sup>129</sup>. No substantial work has been done so far on astrology.

### 20. Critical Studies of Prākṛit Languages :

A number of scholars devoted themselves to studies of Prakrit languages and their critical problems. W. E. Clerk's "Māgadhi and Ardhamāgadhi<sup>130</sup>", M. Sahidullah's "Māgadhi, Prākṛit and Bengali<sup>131</sup>", J. Block's "Asoka, et la Māgadhi" (BSOS, VI), A Banerjee and Shastri's "The Evolution of Māgadhi" etc. are the important papers on the problems related to the Māgadhi Prākṛit.

As regards the Ardhamāgadhi and Jaina Mahārāṣṭrī Prakrit, W. E. Clark's Māgadhi and Ardhamāgadhi (J.A.O. S., Vol. 44, 1924) Alsdorf's "Vasudevahindi, a specimen of archaic Jain Mahārāshtri" (BSOS, 1936), Ghatage's "Instrumental and Vocative in Ardhamāgadhi (IHQ 1937), and "Locative Form in Paumacariya (BBRAS, 1957) etc. are important papers on the subject. M. M. Ghos's "Mahārāshtri a later phase of Śauraseni" (JDC. 1933), M. M. Ghatage's "Mahārāṣṭrī language and Literature (JBU. 1936) are the main papers so far on Mahārāṣṭrī Prakrit.

As regards the Ardhamāgadhī and Jaina Mahārāshtrī Prakrit, W. E. Clark's Māgadhī and Ardhamāgadhī (J. A. O. S., Vol. 44, 1924) and some other important papers may be mentioned e.g. Grierson's Rājashekharā on the home of Paishāci (JRAS, 1921), Paishāci and Cūlikāpaishāci (IA, 1923), The Eastern school of Prakrit grammarians and Paishāci Prakrit (Ashutosh Silver Jubilee Volume), Konow's Home of Paishāci (ZDMG, 1910) A. N. Upadhye's "Paishāci language and literature" (BORI, 1940), Alfred Master's "The Mysterious Paishāci" (JRAS, 95), Grierson's "Prakrit Bibhasa" (JRAS, 1918), Some other papers may also be mentioned here : V. Pisani's discussions on the etymological origin of the words of Prakrit and Pāli (Belvalkar Felicitation Volume, Delhi, 1957), F.B.J. Kuiper's "Paishāci fragment of the Kuvalayamālā (Indo-Iranian Journal, I. I, 1957), Late V. S. Agrawala's "a note on further reference to the Prakrit word Pussamanava" (JOI, VII, 1-2, 1957) etc.

Some points of the Ardhamāgadhī language and of the old religious ritual have been examined by C. Caillat, in papers published in the Journal Asiatique or other periodicals (cf. Acta Orientalia 38, 1977, p 43-66, etc. Ahmedabad 1975, L. D. Series 49). On the basis of Ahmedabad and Berlin manuscripts, C. Caillat further devoted a study to Candavejjhaya. Introduction, Edition critique. Traduction, Commentaire (1971). Presently she is editing an art book on Jain cosmography (ibid).

## 21. Prakrit dialects in Sanskrit Dramas :

The Sanskrit dramas usually contain Prakrit portions called Dramatic Prakrits in the form of speeches of ladies, children and other lower characters. These portions show the variety of Prakrit dialects which attracted first E. B. Cowell who wrote a paper on "A Short introduction to the ordinary Prakrit of the Sanskrit Dramas" (London, 1875). Dr. R. Pischel then published the Bengali recension of Kālidāsa's Śākuntalā in 1877 with special reference to the Prakrit portions. Later on, the remaining dramas of Kālidāsa, Vikramorvaśīya (BSS, 1889), and Mālavikāgnimitra (BSS, 1889) have been edited by S. P. Pandit bringing out the importance of Prakrit dialects. Some more editions of Sanskrit dramas may be mentioned in this connection. For instance, the edition of Mṛcchakaṭīka by Godbole (BSS, 1896), of Mudrārākṣasa by Telang (1900), of Mālatīmādhava by R. G. Bhandarkar (1905), of Ratnāvalī by Coppeller (1877) are important from the point of view of studies in Prakrit dialects. Hastimalla's dramas are also published but their revised editions are required keeping in view the critical apparatus.

Between 1910-1915, T. Ganapati Shastri discovered thirteen plays

of Bhāsa and published them from Trivendram. Later on, Printz pointed out the peculiarities of Prakrit dialect of Bhāsa's dramas in his work "Bhāsa's Prakrits" (Frankfurt AM. 1921) In the "Studies in Bhāṣā (JAOS., 40-42), V. S. Sukhtankar also came to the conclusion that Bhāsa's Prakrit shows the earlier stage in the development of modern languages.

An advance has been made in the study of these dialects by the publication of the Fragments of Aśvaghōṣa's dramas by H. Luders (Berlin, 1911), of Bhavabhūti's Mahāvīracarita by Todar Malla (Oxford, 1928), of Maharājaparājaya by Chaturavijaya and Dalal (Baroda, 1918), of Mālavijaya by L. B. Gandhi (Baroda, 1926). These works presented the older forms of Māgadhī, Śāurasenī and Apabhraṃsa. H. D. Velankara's edition of Vikramorvaṣṭiya (Sahitya Academy, 1961) is also an important work in this field.

## 22. Studies in Prakrit Languages and Linguistics

Prākṛit languages attracted the foreign scholars who make busied themselves in the studies of Prākṛit languages from different angles. Muller puts forth his views regarding the morphology etc. of Prakrit languages (Deitrag. Zer Grammatik des Jains Prakrit (Kuhne's Zeitschrift fur deutschen morgenlandischen Gesellschaft, Vol. XXXIII pp. 249-259, Gutersloh, 1887) that may also be mentioned here in this connection. Sten Konow submitted a comparative study on Mahārāshṭrī and Marāthī languages (Indian Antiquary, Vol. XXXII, pp. 180-192, Bombay, 1903). R. Morris's "Notes on some Pāli and Jaina Prakrit words (The Academy, 1892, pp. 217-218, 242-243, 315, London, 1892), Wikramasinghe's "Index of all the Prakrit words occurring in Pishel's Grammatik der Prakrit Sprachen (IA. Vol. XXXIV, Bombay) are also very important papers from the point of view of Prakrit philology. Dr. A. Hoefler described the peculiarities of various types of Prākṛit dialects (Prākṛita dialecto libri duo, Brolin, 1836). In 1868, J. Beabnes pointed out the examples from Śāurasenī with a linguistic view (Out-lines of Indian Philology, Second edition, 1868, p. 2-3). Then S. Goldsmith dealt with the infinitive and passive case in Prākṛit (Der infinitive des passive in prākṛit, ZDMG, Vol. XXVIII, p. 491-493, Leipzig, 1874)<sup>132</sup>. E. Muller expresses his views regarding the importance of Prākṛit languages in evolution of Indo-Āryan languages. John Beams published a few volumes on Āryan languages between 1872 to 1879. In the mean time, Wilson delivered philological lectures at the University of Bombay wherein he pointed out the evolution of Sanskrit language and formation of Prākṛit Languages and modern regional vernaculars.

R. Pischel wrote "Grammatic der Prakrit sprachen" with the back-ground of Indo-Āryan studies which again had been caused to draw the attention of other scholars like Sten Konow, to work on Prākṛit languages. Dr. S. M. Katre's Lectures "Introduction to modern Indian Linguistics with special reference to Indo-Aryan and Assamese" (University of Gauhati, 1961) and Dr. A. M. Ghatage's lectures "Historical Linguistics and Indo-Āryan languages (University of Bombay, 1962) give us a good picture of Prakrit languages in growth of Indo-Aryan languages. Dr. S. K. Chatterji and Dr. Sukumar Sen's Middle Indo-Aryan Reader appeared from the University of Calcutta in 1957 which is very useful to understand the importance of prakrit languages from the linguistic point of view. Dr. Gune's "Introduction to comparative Philology" is also a good source for the study concerned. He pointed out in his paper "Apabhramṣa literature and its importance to philology" that Apabhramṣa is the stage immediately preceding the modern Āryan vernaculars of India (Proceedings and Transactions of the First Oriental Conference, Poona, 1919).

Dr. A. N. Upadhye read a paper on "Languages and dialects used in the Kuvalayamālā" wherein he presented a vast range of linguistic material with special significance for the study of Middle Indo-Āryan in particular and of Indian linguistic in general (A. I. O. C., XII Session, Gauhati). S. N. Ghosal's "On the etymology of the Prakrit vocable pore" (V. I. G., Hoshiyarpur, Vol. pt. 1, March, 1967, p. 38-40), Gurusevi Sharma's "Māgadhībhāsāsu kriyāpadānām viśeṣaṇam" (AI—C. Aligarh), Munishwar Jha's "Modal Relations in Prakrits (ibid), Desi words in Kālidāsa's Prakrit (ibid), etc. may be mentioned here where the said scholars dealt with different aspects of Prākṛit languages and linguistics.

### 23. Studies in Prakrit Grammars :

Prākṛit grammarians are divided into two sections, viz. one belongs to the Eastern school and another to the Western. The studies in Eastern school of Prākṛit grammar were initiated by E. S. Cowell who published the Prākṛit Prakash or the Prākṛit grammar of Vararuci alongwith the oldest commentary called Manoramā by Bhāmaha (Hertford, 1854). He issued another edition of the same grammar with last chapter on Śaurasenī as an appendix based on the Hemachandra's grammar (London, 1868). Its another edition was published by Ramashastri Telang from Benaras in 1899.

A number of commentaries have been written on Vararuci's Prākṛit Vyākaraṇa. Of these commentaries, Kātyāyana's commentary



(Prakrt manjari) is issued by the N. S. Press, in 1913. Under Joint editorship, of Batuknath Sharma and Baldeva Upadhyaya, the Prākṛit Prākash was published in two volumes with its two commentaries—Sanjivini of Vasantarāja and Subodhini of Sadananda (U. P. Govt, Press, 1927). Another edition was issued by P. L. Vaidya (Poona, 1931). Udyotana Shastri edited Manoramā commentary of Bhāmaha (Varanasi, 1940) and Kunhan Raja edited Rāmpānivāda commentary (Adyar Library, 1946). All these editions represent the first eight chapters which belong to the South Indian tradition.

Prākṛit Lakṣaṇa of Canda is perhaps one of the oldest Prākṛit grammar written in Sanskrit which was for the first time edited by H. Hoernle (Calcutta, 1880) with special reference to its Ardhamāgadhī form. It was re-edited by Revalikant (Calcutta, 1923) and its another edition was published from Ahmedabad, 1929.

Prākṛit Kāmadhenu or Prākṛit Lankeśvara of Lankeśvara Rāvaṇa was issued by Dr. Manamohana Ghos with the Prākṛit Kalpataru (Appendix No. 2, P. 170-173). Sankṣipta edition of Kramadīśvara was first introduced by Lassen (1839) and then published by Rajendralal Mitra in the Bibliothika Indica. Its new edition issued from Calcutta in 1919.

Prākṛit Śavdānuśāsana of Puruṣottama was edited by Nitti-Dolci (Paris, 1938) on the basis of only one manuscript found in Nepal. Its introduction deals with the date and other works of Puruṣottama. This work was re-edited with English translation by Dr. Manamohan Ghōṣa in the appendix No. 1 to the Prākṛitkalpataru. The Prākṛitkalpataru of Rāmatarakavāgīśa Bhaṭṭācharya could not be published in one form due to the defective nature of Ms. material. Grierson had under-taken its different parts and published them into journals in the forms of articles like Paisācī in the Prākṛitkalpataru (IALI), the Apabhraṃśa Stabakas of Rāmasarman (IALI), the Śauraseni and Māgadhī stabakas of Rāmasarman (IALVI, LVII). It was then edited by E. Hultzsch and published by Royal Asiatic Society, Hertford, in 1909. Finally Dr. Manamohan Ghōṣa edited the complete work which was published by the Asiatic Society, Calcutta in 1954. This work was translated into English and some other minor works on Prakrit Grammar like Prākṛit Kāmadhenu were included in the Appendices. The Prākṛit Sarvasva of Mārkaṇḍeya edited by S. P. V. Bhattanāthsvāmin (Vijagāpattam, 1927) is perhaps the best grammar in the Eastern school for learning the Prakrit dialects.

Ācārya Hemacandra is one of the best grammarians representing the Western school of Prākṛit grammarians. His Prakrit

Vyākaraṇa is the eighth chapter of Siddhahemaśabdānuśāsana which was edited for the first time by R. Pischel in two volumes (Halle, 1877, 1880). Krishna Mahābala gave of course an introduction to the Hemacandra Vyākaraṇa (Bombay, 1872) but that was not a complete picture of characteristics of the Prākṛit grammar. The first part of the work comprises text and word index and the second part of the German translation, explanation and comparative study. It was re-edited by S. P. Pandit and included as an appendix to his edition of Kumārapālacarita (BSS, 1900), a second edition of which was devoted by Dr. P. L. Vaidya (BORI, Poona, 1936) who had already edited it earlier (Poona, 1928). Another revised edition came into light from Poona (1958) and recently it is published with Hindi translation.

Out of the three chapters, the first chapter of the Trivikrama's Prākṛitśabdānuśāsana was published from Vijagāpattam (1896). Its complete form was edited by T. Laddu (1913) and Batukanath Sharma and Baldev Upadhyaya (Benaras). More revised editions with Svopajñāvṛtti were issued by Dr. P. L. Vaidya (Sholapur, 1954) with a satisfactory performance.

On the basis of Trivikrama's Prākṛitśabdānuśāsana, the Prākṛit-rūpavāṭṭāra was written by Siṃharāja. This work was edited by E. Hultzsch in 1909 (RAS) with an introduction dealing with date, authorship, etc.

Another Prākṛit grammar "śaḍbhāṣācandikā" was written by Lakṣmīdhara of Andhrapradesh on the basis of Trivikrama's Prākṛitśabdānuśāsana. It was edited by Kamalashankar Trivedi (Bombay, 1916). Prākṛitmaṇḍīpā or Prākṛitmaṇḍīpikā of Appaya Dixit was issued by Shrinivas Gopalacharya with notes (Mysore, 1954). Besides these Prākṛit grammars, some other grammars have also appeared.

#### 24. Modern grammars of Prākṛit Language

On the basis of afore-mentioned Prākṛit grammarians, the modern scholars started writing on Prākṛit grammar in different languages. Some of them we have already mentioned in the linguistic section. At early stages, the Hoeffar's Prākṛit grammar "Prākṛit Deolecto Libriduo" appeared from Berlin in 1836. At the same time, Lassen's Institutiones Linguae Prakritikae" (Bonn, 1839) was issued wherein the subject material for the Prākṛit studies was given to first learners. Ch. Lassen's "Institutiones Linguae Pracritikae" (Bonnae ad Rhenum, 1837) and E. Muller's "Beitrag Zur Grammatik des Jain Prakrit" and De R. Pischel's "De grammaticis Pracri-

tis” (Vratislaciae, 1874) etc. are the important works which assisted to the development of Prākṛit studies.

Risikesa Shastri compiled a Prākṛit Vyākaraṇa in Sanskrit with English translation (Calcutta, 1883), P. F. Pavolini’s Italienna version of Le Novello Prākṛit de Mandiya edi Aglaladalta (Rome, 1872), R. Pischel’s “Grammatik der Prākṛit Sprachen” (Strassburg, 1900), Sir George Abraham Grierson’s “Prākṛit Dhātuvādeśas” (ASB, Calcutta, 1924), Woolner’s “Introduction to Prākṛit” (Calcutta, 1928) are important editions on modern Prākṛit grammars.

Later on, the scholars started to study a particular Prākṛit dialect and as a result, Weber’s book on Mahārāshtrī and Ardhamāgadhī, Adverd Mullar’s book on Ardhamāgadhī. H. Jacobi’s book on Mahārāshtrī, Cowell’s book A short Introduction to the ordinary Prākṛit of the Sanskrit Dramas with a list of common irregular Prākṛit words (London, 1875) etc. are very important works in the field. Likewise, some other works dealing with particular Prākṛit dialect are R. G. Bhandarakar’s “The Prākṛita and the Apabhraṁśa” (RAS, Bombay, Vol. XVII, p. 1-84, 1889), R. Schmidt’s Elementarbuch der Sauraseni (Hannover, 1924), Becardas Dosi’s Ardhamāgadhī Reader and Prākṛit Mārgopadeśikā (Lahore, 1623), P.L. Vaidya’s “A Manual of Ardhamāgadhī Grammar” (Poona, 1934), A. M. Ghatage’s “Introduction to Ardhamāgadhī” (Kolhapur, 1941), Dineshchand Sircar’s “Grammar of the Prākṛit Language” (Calcutta, 1943), M. A. Mchendale’s Historical Grammar of Incriptional Prākṛits, Poona, 1948). G. V. Tagare’s Historical Grammar of Apabhraṁśa (Poona, 1943), G. V. Davane’s Nominal Composition in Middle Indo-Aryan (Poona, 1959), and Comparative Syntex of Middle Indo-Āryan (Calcutta, 1953), Dr. Nemichandra Shastri’s Abhinava Prākṛita Vyākaraṇa (Varanasi, 1963) and Madhusūdan Misra’s Prākṛit Vyākaraṇa., Dr. Subhadra Jha’s English translation of “Pischel’s work Grammatik der Prākṛit Sprachen” was published from Delhi in 1957 and its Hindi translation by Hemachandra Josi appeared from Patna in 1958 with a corrigenda extending over 55 pages. A number of Apabhraṁśa Vyākaranas have been also published during these years.

## 25. Studies in Apabhraṁśa literature and Language

Prākṛit including Apabhraṁśa is closely related with the modern languages. Its vast literature is preserved by the Jaina Bhaṇḍāras as Jainas regarded it as their duty to distribute copies of the religious works among the readers.

Sir William Zones founded the Asiatic Society in 1784 with a

view to propagate the Sanskrit studies. In 1789, Kālidās's Śakuntalā appeared along with its Prākṛit portions. Scholars then came to be acquainted with its form. Simultaneously, the Prākṛit inscriptions were also before them for study. In 1854, Cowell published the Prākṛit Prakāsha of Vararuci which has no reference to Apabhraṁśa. Then Pischel edited Hemachandra's Prākṛit Vyākaraṇa and published it from Halland, in 1877. He did not know that there was any literature in Apabhraṁśa, as before 1901 no Apabhraṁśa literature was published. Dr. Gune's 'An Introduction to Comparative philology' and Dr. Benarji-Shastri's "Evolution of Māgadhi" attracted the scholars towards the studies in Apabhraṁśa. Pischel utilized the material available in the Vikramorvaṣṭya and Alaṅkāra granthas and published his work "Materialen zur Kenntnis des Apabhraṁśa (Gottingen, 1902) and Ein Nachtrag zur Grammatik der Prākṛit sprachen (Berlin, 1908). Dr. L. P. Tessitori's "Paper on Notes on the Grammar of the Old Rajasthani with special reference to Apabhraṁśa and Gujarati and Marwari", IA. 1914-16 and Dr. Grierson's book "Linguistic Survey of India (1913) may also be mentioned.

Dr. H. Jacobi was a Professor in the Bonn University of Germany. He studied Pischel's grammar and then edited the Uttarādhyayana. On the basis of peculiarities of its stories, he wrote a treatise "Ausgewahlte Erzählungen in Mahārāshṭri" (Leipzig, 1886). He also edited the Ācārāṅga, Kalpasūtra, Kālakāchārya kathānaka, Paumacariyam, and Samaraiccakahā (1913-14). He then came over to India and got a copy of "Bhaviṣyattakahā" of Dhana-pāla in Ahmedabad which was published in Germany (Munche) in 1918. Another work Sanatkumāracarīu of Haṭibhadrasūri was received by him in Rajakot which was edited and published in 1921. He also published a paper on Apabhraṁśa (Gartigon, 1923) which was followed by Smith (London), Alsdorf and Dolchi (The Apabhraṁśa Stavakas of Ramasharman, 1939). Alsdorf wrote a paper on Apabhraṁśa (M. Winternitz Memorial Volume, 1933) and issued a book "Apabhraṁśa Studian" (1937).

In 1914, Cimanalal Dahyabhai Dalal read a paper 'Pātana na bhaṇḍāro ane khasa karine temam rahelum apabhraṁśa tathā prācīna Gujarātī sāhitya' in the fifth Gujarātī Sāhitya Parisad. This paper encouraged further studies in India. The work on Bhaviṣyattakahā which could not be completed by Jacobi was taken up by Dalal but unfortunately he died in 1918 and the remaining work was handed over to Dr. Gune and Pandurang who completed it with an extensive introduction.

Late Pt. Nathuram Premi wrote an article "Puṣpadanta aura unakā Mahāpurāṇa" in the Jaina Sāhitya Śodhāṅka wherein he mentioned the Yashodharacariu and Nāyakumāracariu. Dr. Hiralal Jain also published a few articles in the journal of the University of Allahabad on Karakaṇḍucariu, Sāvayadhammadohā etc. Muni Puṇyavijayaji and Jinavijayaji also issued a number of Prākṛit texts.

Thus between 1915-1930, a number of books in Prākṛit and Apabhraṁśa appeared. Then Becaradas Dosi, Keshavaram Shastri, P. L. Vaidya, A. N. Upadhye, Hiralal Jain, A. N. Ghatage, Hari-vallabha Bhayani, Vimal Prakash Jain and others came forward for the studies in Apabhraṁśa language and literature.

## 26. Some important Apabhraṁśa publication

Besides the above-mentioned Apabhraṁśa publications, I may mention here a few of important publications. Paumacariu and Riṭṭhanemicariu of Svayambhu were edited by Prof. Bhayani with giving comprehensive introductions (Singhi Jain Granthmālā, Bombay, 1953). Dr. P. L. Vaidya edited the Mahāpurāṇa of Pushpadanta (M. Jain Granthamālā, Sam. 1993, 1996, 1998, Bombay). The editors, Dr. Bhayāni and Vaidya gave in three volumes introductions dealing with date, author etc. Bhavisyattakahā was issued by Dalal and Gune (Gayakavada O. S., 1923). Bhayani published a few articles "Svayambhu and Hemachandra (Bharatiya Vidya, Vol. 8, No. 8-10, p. 202-6, 1947) and "The Paumacariu and Bhavisyattakahā" (Ibid., No. 1-2, 1947, p. 48-50). Dr. Hiralal Jain founded a series at Karanja which published a number of works found in the Karanja Bnaṇḍāra itself. Nāyakumāracariu of Pushpadant, Karakaṇḍucariu of Kanakamāra, Sāvayadhammadohā, Pāhuḍadohā of Ramasingh etc. are edited by Hiralal Jain under the Karanja series. Jasaharacariu of Pushpadanta edited by P. L. Vaidya (Karanja, 1931), Paumasiricariu of Dhāhil edited by Bhayāni (Bombay, 1948), Sandesh Rasaka of Abdulrahmana issued by Muni Jinavijayaji and Bhayāni (Bambay, 1945), Kīrtilatā of Vidyāpati edited by Baburam Saksena (Allahabad, Samvat, 1946), Paramappayāsu of Yogīndu (Dr. A. N. Upadhye, Bombay, 1937), Yogasāra of Yogīndu (ibid.), Vairagyasāra of Suprabhācārya (Velankara, JBORI, Poona, Vol. 9, p. 272-280.), Upadeśarasāyanarasa (L. B. Gandhi, Kavyatrayi, Baroda, 1927), Mayanaparājayacariu of Harideva (Hiralal Jain, Kashi, 1962), Prabandhacintāmaṇi of Merutuṅgācaryā (Muni Jinavijayaji, 1923), Sugandhadasamīkahā (Hiralal Jain, Kashi, 1966) are the important publications. Most of them have introductions dealing with date, authorship and subject material etc, Hundreds of works are still

lying unpublished in the Bhaṇḍāras which deserve to be published.

### 27. Modern Researches in Prākṛit and Apabhraṁśa

The scholars in oriental studies now turned to find out the subjects from Prākṛit and Apabhraṁśa literature. As a result, a number of scholars have been even awarded Ph. D. and D. Litt. degrees by the different Universities. I may mention here a few of them.

Dr. Hiralal Jain, an eminent scholar in Prākṛit and Apabhraṁśa, was awarded the D. Litt. degree by the Nagpur University in 1944 on the Apabhraṁśa studies. "The study of Prākṛit Mahākāvya in relation to cognate Sanskrit literature" was a subject of Dr. Ramji Upadhyaya for his degree of Ph.D. which was approved by the University of Allahabad in 1945. Prākṛit aur Apabhraṁśa : Unakā diṅgala sāhitya para prabhāva" was a subject for Ph.D. Degree which was approved by the Rajasthan University and awarded to Dr. Govardhanadas Sharma, in 1962. Prof. Rajarama Jain got his Ph.D. on Svayambhū from the Bihar University. Dr. Nemichand Shastri was awarded Ph.D. Degree on "Haribhadrāsūri kī kathāon kā samālocanātmaka adhyayana" by the same University. Ācārāṅgasūtra (Dr. Paramesthidas Jain) and Uttarādhyayana (Dr. Sudarshanlal Jain) are approved for the Ph.D. Degrees by the University of Sagar and BHU. respectively. Dr. Vimalaprakash Jain has edited Jambūsāmi Cariu, an Apabhraṁśa Epic dated V. S. 1076 of Veer Kavi from five old MSS. with a complete Hindi translation, Sanskrit-gloss and complete word index which is published by the Bharatiya Jnanapitha, Kashi. The present work has been approved for the award of Ph.D. Degree by the University of Jabalpur. He is also editing another work "Jambūsāmi ajjhayana" which is to be published by the Prākṛit Text Society. He has also reported me that he was making a comparative studies in the origin and development to Indian Narrative literature in Sanskrit, Pāli, Prākṛit and Apabhraṁśa language for the D. Litt. degree of the University of Jabalpur. Another work under him is to work on the compilation of the Encyclopaedia of Indian stories in Sanskrit, Pāli, Prākṛit and Apabhraṁśa up to the 15th century A.D.

Dr. R.S. Tripathi from the Aligarh University has contributed a work "Mahābhāṣyaon men Prākṛit, Apabhraṁśa sambandhī Sāmagrī" which is published in the Abhinava Bharatī, Vol. 1. 1959. Dr. P. Ananda from the same University is working on the Gathāsaptaśati : a critical introduction to and an exhaustive commentary thereon. Dr. Harivamsa Kochada and Dr. Devendra Kumar Jain have been

awarded Ph.D. Degrees on the Apabhraṃśa literature by the University of Delhi and Nagpur respectively. Harivamsa Kochada's thesis has already been published and the other is to be published by the Bhāratīya Jñānapītha. On the works of Kundakundāchārya Dr. Lalbahadur Shastri got Ph.D. From the Agara University. I am also making a critical study of the Sūyagaḍaṅga and Bhagavatī Ārādhanā of Shivārya. A number of other scholars are working in the field, but I could not get the detailed information from them.

Some others works may also be mentioned here, e.g. Life in ancient India as depicted in Jaina Āgamas by Dr. Jagdeeshchand Jain, Jainagamañ men Nārī Jīvan by Dr. Komalchand Jain (Benaras, 1967), History of the Canonical literature of the Jainas and Paiya-bhāśo ane sāhitya by Hiralal R. Kapadiya (Bombay, 1941), Prākṛit sāhitya kā itihās by Dr. Jagdeeshchand Jain (Benaras, 1961), Prākṛit bhāśā aur sāhityā kā ālocanātmake itihās by Dr. Nemichand Shastri, etc. The present author submitted a thesis entitled 'Jainism in Buddhist literature' to the Vidyodaya University of Ceylan for the degree of Ph.D. which was approved in 1966 and published in 1972. He also edited the Candappahacariu (1985) of Yaśaḥkṛti and Dhammaparikkhā of Ācārya Harisheṇa (1990) and also the Sambohapañcāsiyā and Vayakahā.

## 28. Prākṛit studies under the University and Research Institutes

Very few Universities and Research Institutes conduct the Prākṛit studies independently. A survey of Prākṛit studies was made by the L. D. Institute of Indology which found that no University has an independent Prākṛit Department. At some places it is combined with the Hindi or Sanskrit departments and at some other places it is running with Pāli or Indological studies. As a result, the Prākṛit studies suffer a lot. The Sampurnanand Sanskrit University of Varanasi has of course now the independent Department for Prākṛit and Jainology. Kendriya Lal Bahadur Shastri Sanskrit Sansthan is also running the Jainology Department.

Recently *the Jain Vishva Bharati Institute, Ladnun* have been notified as Deemed University under section 3 of the University Grants Commission Act, 1956 and this institute has indeed started some independent P.G. courses in the Prākṛit and Jain studied.

The Government of Bihar deserves congratulations for providing the independent Research centres for Sanskrit, Pāli and Prākṛit. The Institute for Research in Prākṛit, Jainology and Ahimsā founded at Vaishali, the birth place of Mahāvira, in 1953 under the directorship of Dr. Hiralal Jain, a great authority on Sanskrit, Pāli and Prākṛit

and allied indological studies.

Another institution for Prākṛit studies is the Bhāratiya Sanskriti Vidya Mandir at Ahmedabad which was established in 1957 with the financial assistance of Sheth Kastoorbhai Lalbhai under directorship of Pt. Dalsukha Malvaniya. It has started a number of activities like collection of Mss, Publication of the Prākṛit and Jain works, Scholarships to the students of Prākṛit etc.

The Pārśvanātha Vidyāśrama at Varanasi is also an important Research institute which provides every possible help to the students for preparing their theses on Prākṛit and Jainism. It provides the scholarships for research and then tries to publish the theses. Under the directorship of Dr. Sagarmal Jain, it is on a better path of progress than before. Syādvāda Mahāvidyālaya at Varanasi and Todar Mal Smāraka Bhavan at Jaipur may also be mentioned here which have a rich library on the subject. The Syādvāda Mahāvidyālaya provides sufficient facilities to students of Prākṛit and Jainology. Bhogilal Institute of Indology at Delhi has recently been established with a rich library and other facilities.

Among the Universities, the Prākṛit as a subject is independently taught in the University of Gujarat, Shivaji University and Bihar University. The Nagpur, Ahmedabad and Shantiniketan Universities have combined departments for Pāli and Prākṛit, while the Jabalpur, Kurukshetra, Lucknow Universities run the combined departments for Sanskrit, Pāli and Prākṛit. Allahabad, Aligarh and Poona Universities have the group systems in Sanskrit, Pāli and Prākṛit. The Mysore University has been running the Dept. of Jainology since the last about twenty years. The Madras University has also started the Department of Jainology recently with the financial assistance of the Research Foundation of Jainology, Madras. There are also some Jain Centres in the Universities of Jaipur, Patiala and Baroda. It is strange that the Universities like Delhi and Varanasi have no Departments for Prākṛit and Jain studies. The Udaipur University has a good Department of Jainology and Prākṛit.

## 29. Prākṛit Text Series

The Prākṛit Text Society, on the imitation of Pāli Text Society, was established in 1953 under the patronage of late Dr. Rajendra Prasad, first President of the Republic of India. It is undoubtedly a boon to the publication of Prākṛit and Jaina texts. It has published so far the Nandisūtra, Pārasanāhacariu, Prākṛit Piṅgalaṃ, Pāiyasa-ddamahaṅṅavo, Cauppanamahāpurisacariyam, Ākhyānamaṅikośa, Aṅgavijjā, Paumacariyam, etc. Bhāratiya Jñānapīṭha, Kashi was



founded in 1942 with a view to bring out the critical editions of works in Sanskrit, Pāli, Prākṛit, Apabhraṁśa, and Hindi etc. Uptil now about twenty columns in Prākṛit have been published by this institution. L. D. Institute (Ahmedabad), Sanmati Jain Jñānapīṭh (Agra), Pārśvanātha Vidyāśrama (Varanasi), Digambara Jain Sangha (Mathura), Jivājirav Jaina Granthamālā (Sholapur), Singhi Jaina Granthamālā (Bombay) etc. are the important institutions which bring out the Prākṛit texts with critical and exhaustive introductions.

### 30. Prākṛit and Jain studies Abroad

As regards the Prākṛit studies abroad, there is an institution of Indology, University of Vienna (Austria) where Prof. Dr. Erich Frauwallner has specialisation in History of Indian Philosophy and Prākṛit literature. In Belgium, Prākṛit and Jainism is being taught in different institutions. The University of Ceylon and the Vidyodaya University of Ceylon have the combined departments for Sanskrit, Pāli and Prākṛit. There is Dr. Ananda Guruge who has proficiency in Prākṛit and Jainism alongwith Sanskrit and Buddhism, though he is attached with the Government of Ceylon as a Senior Asstt. Secretary to the Ministry of Education. University of Belogna published a work 'Yoga': contribution to the study of the Jaina philosophical language' by A. Baccararu. Pennsylvania University conducts research and institutions in Jaina Prākṛit Texts under Prof. W. Norman Brown and Jaina Hagiographical literature and Jaina Mahārāshtri Prākṛit under Prof. Earnest Bebder. In France, a number of institutions are providing sufficient facilities to research workers in Prākṛit. In East Germany, Dr. Monik Jordin, Dr. Klaus Bruhn and Dr. Chandrabhal Tripathi are attached with the Free University, Berlin. They have specialisation in Prākṛit and Jaina literature and mythology. Dr. Tripathi published a catalogue of Jaina manuscripts of Serasberg University. Klaus Bruehn (Jain Literature and Mythology), Ulrich Shniader Boele etc. may also be mentioned as the scholars of Prakrit and Jainology.

Japan became the important centre for Jain studies during these years. Suzuki, the founder of Jain studies published "Jaina kyoseiten", Jain Secred Book (Atsushi Uno—"Jain Studies in Japan"—Jain Journal, Vol. VIII, No. 2, 1973, p. 75), Tattvārthadhigamasūtra, Yogashāstra and Kalpasūtra (ibid. p. 77). Dr. E. Kanakura of Tohoku University worked on the Study of Jainism (1940), Tattvārthadhigamasūtra (1944) and Nyāyavatāra. Prof. S. Matsunami did a comparative study of Jainism and Budhism (Jain Journal, oct. 1973, p. 78), A study on Dhyāna in Digambar sect (1961), Ethics of Jainism and Budhism (1963), Isibhāsiyaim (1966) and Dasveyaliyasutta (1968).

Dr. Nakamura and Yotak ojihara of Tokiyo University worked on the comparative study of Jainism and Buddhism. Atsush uro worked on the Vitarāgastuti of Hemacandra, pravacanasāra, Pañācstikāya, and Sarvadarśana Saṅgraha and worked on Karma doctrine in Jainism (1961—Progress of prākṛit aud Jain studies”—Presidentaial address of Dr. Nathmal Tatia in AIOC, Varanasi, 19 8).

Research in Jainism is also being carried out in Soviet Union. Marget B. D. and Tatyana K. of Leningrad University and Guseva of Moscow University are the leading scholars in the field. prof Aigour S. of the institute of oriental Studies worked on the Dhurtakhyana.

Jainism is also becoming popular among the American scholars. Dr. Padamanābha Jaini in the California University is a very famous scholar of Jainism and Buddhism. New York, Honololo, Fildelphia and other Universities became the centre for Jain Studies. Dr. Dulichandra Jain, Muni Sushil Kumarji and Citrabhanuji are the pioneers of Jain studies in U. S. A.

*This is a short sketch of Prākṛit and Jain studies going on in India and abroad. So many works and scholars may have been left out in the paper. I have given a picture only just to manifest that during the last century so mush work has been done in the field, but in the view of vast extent of Prakrit literature what remains to be done is more significant. Innumerable Prakrit works dealing with a variety of subjects are still lying in unsatisfactory conditions in various Jaina Grantha Bhandaras. It is the duty of Prākṛit lovers to bring these works to light and publsh their critical editions. In order to make them excessable to the common people, they should be translated into regional languages and English and other foreign languages. The historical and cultural material of these works should be studied with a view to throw more and more light on India's past. Secondly, loud.ble efforts should be made to establish the independent Depatments of Prakrit and Jain studies in the Universitles and colleges. The Haryana Government has recently announced the Mahāvīr chair to be established in the Kurukshetra University. Likewise, the existant Departments of Prakrit and Jain studies should be protected in all respects.* □

#### References :

1. Wien, 1881.
2. Extra number of the Journal of the Bombay Branch of the Royal Asiatic Society, Vol. xvi, Bombay, 1883 ;Vol. xvii, Bombay, 1887, R. A. S , Bombay, 1894.

3. Bombay, 1884.
  4. Leipzig, 1888.
  5. Zweiter Band, Berlin, 1886-1892. Also see the *Zweite Abtheilung*, 1888.
  6. Leipzig, 1892.
  7. Transactions of the ninth International Congress of orientalists, Vol. I, P. 215-218, London, 1893. Also see the *Catalogo dei Manoscritti Gianici della Biblioteca Nazionale Centrale di Firenze* 1894.
  8. *Wiener Zeitschrift fur die kunde des Morgenlandes*, Vol. xi. P. 297-312., Wien, 1897. Also see his another catalogue "Liste Von transcribirten Abscirften und Auszugen Voawiegend aus der Jaina Literatur". *zeit schrift der deutschen Morgenlandischen Gesellschaft*, Vol. xlv, P. 454-464, Vol. xlvi, P. 308-315
  9. *Uber die indisch sekte der Jainas*, P. 17, Vienna, 1887; also *Winternitz: A History of Indian Literature*, Vol. II, PP, 424 ff., Calcutta, 1933 and *The Jainas in the History of Indian Literature*, Ahmedabad, 1946. referred by A. N. Upadhye in the *Review of Indological Research in last 75 years* (Section: Jaina Studies, P. 676) published by M. M. Chitrashastri Felicitation Committee and *Bharatiya Caitrakosha Mandala*, Poona—4. 1967.
  10. Allahabad, 1899.
  11. Madras, 1893.
  12. Allahabad, 1904.
  13. H.D. Velankar, Bombay.
  14. Peterson remarked about the Pātan collection: "I know of no town in India and only a few in the world which can boast of so great a store of documents of such venerable antiquity. They would be the pride and jealously guarded treasure of any University library."—Quoted by A.N. Upadhye in the *General Presidential address of All India Oriental Conference, twenty-third Session, Aligarh. 1966.*
- Some more cats. may be mentioned: *A Catalogue of Sanskrit and Prakrit and Hindi Works in the Jain Siddhanta Bhavan Arrah*, *Catalogue of Sanskrit and Prakrit manuscripts in the C.P. and Berar*, *Catalogue of Prakrit MSS.* etc.
15. Ahmedabad, 1927.
  16. Bombay, 1881.
  17. Benglore, Samvat, 1993.
  18. Ahmedabad, 1938.
  19. *Abbrandlungen der ZDMG*, 1867.
  20. Ahmedabad, Samvat 1969-9988.

21. Specimen der Nayadhammakahao, Leipzig, 1881.
22. Poona, 1940.
23. Bibliotheca Indica, Calcutta, 1818, 1890.
24. Bombay, 1920.
25. Poona, 1940.
26. Ludhiyana, 1964.
27. Sve. Sthankavasi Jaina Shasro. Samiti, 1988.
28. Agamodaya Samiti, Bombay, 1919.
29. Burjvuug, 1936.
30. Baroda, 1922.
31. Ludhiyana, 1964
32. Belgavan, 1935.
33. Des Aupapatika Sutra, erstes Upanga der Jaina, 1. Thail, Einleitung, Leipzig, 1883.
34. Surat, Samvat. 1914.
35. Rajakota, 1959.
36. Poona, 1931.
37. Devachandra Lalbhai, N.S. Bombay, 1919.
38. Ahmedabad, 1939.
39. N.S., Bombay, 1918-1919.
40. Benaras, 1884.
41. Ahmedabad, Samvat, 1991.
42. R. Kesari. Sanstha, Ratlam, 1947.
43. Indischa Studies, Vol.X, P. 254-316, Leipzig, 1868.
44. Journal of the Asiatic Society of Bengal, Vol. XLIX, p.109-127, et.181-206.
45. N. S., Bombay, 1939.
46. N.S., Bombay, 1920.
47. Ahmedabad, 1939
48. Poona, 1932.
49. Amsterdam, 1879.
50. Jain Granthavali, Jain Sve. Conference, Bombay, Samvat, 1965, p. 72.
51. Atmananda J. Sabha, Bhavanagar, 1929.
52. R. Kesari. Ratlam, 1928.
53. Prakrit Text Society, Varanasi, 1957
54. Vijayadan Surisvar Granthamala, Surat, 1939
55. Published with the Avacuri and Cujrati Trans. by Sri Buddhi vrdhhi Karpur Granthamala, Samvat, 1994.
56. Berlin, 1918.
57. Ahmedabad.

58. Sarabhai Mahilal Navav, Ahmedabad, Samvat, 2008.
59. Devchand Lalbhai Jain phand, Bombay, 1923.
60. Atmananda Jain Sabha, Bhavanagar, 1933-1942.
61. Ahmedabad, Samvat, 1994.
62. Ahmedabad, Samvat, 1983.
63. Ratlam, 1933.
64. D.L. Jain Pustakoddharamala, No. 33, 36-41, Bombay.
65. Bombay, 1937.
66. SBE. Vol. 45.
67. Ratlam, 1928.
68. Agamodaya Samiti, Bambah, 1928,
69. Surat, 1939.
70. Ratlam, 1933.
71. Bombay, Samvat, 1999.
72. Zeit Schrift der deutschen Morgentandischen gescllschaft, Vol. XLVI, p. 581-663, Leipzig, 1892.
73. Parallel passages in the Dasaveyaliya and the Ācārāṅga, New indian Antiguary, Vol, No, 2, pp 130-7
74. D. L. Jain Pustakaroddhara Granthamala, Surat, 1928.
75. Agamodaya Samiti, Bombay, 1919.
76. Muni Manavijaya edited with Dronacharya' vrtti, Surat, 1957.
77. D.L. Jain. Phand, Surat, 1951 with Yashodevasuri's tika.
78. Commentators : Akalanka, Devasuri, Parsvasuri, Sricandrasuri, Tilakacharya, Ratnasekharasuri. With the Vrttis of Parsvanathasuri, Chandrasuri and Tilakacarya, the work was published from Vinayabhakti Sundaracharana Granthamala, Samvat, 1997.
79. Edited by Schribing (Vienna, 1943); Ratlam, R. Ke. Samstha, 1927.
80. Ratlam, 1928.
81. See my article, Philosophical Jain Literature.
82. See my article "Jaina Canonical literature" for the Acharya Paramparā.
83. Bharatavarsiya Di. Jain Granthamala, Mathura, 1944-1923.
84. Rayachandra Jain Sastramala, 1935.
85. Rayachand Jain S., 1919 (with commentaries of Amṛtchand and Jayasena.
86. Edited by and English translated by J.L. Jain and published in Sacred Books of the Jainas, vol. viii, 1930.
87. Prof. A. Chakravarti, 1950.
88. Sholapur, two volumes, 1948, 1951.
89. Svadhyaya M. Trust, 1964.
90. Premi, Nathuram, Jaina Sahitya ka Itihasa, p. 77.
91. Ibid., p. 578.
92. Journal of the University of Bombay, Vol. 12, 1943-44.
93. Hindi Grantha Ratnakara Karyalaya, Bombay, 1940.
94. Adiyar library, Madras, 1943.

95. Principal Karmarkar Commemoration Volume, Poona, 1948.
96. Bhavanagar, 1914.
97. Nemivijnana granthamala, 2000 (samvat)
98. Asiatic Society of Bengal, Calcutta, 1926.
99. Singhi J.O., Bombay, 1944.
100. Ibid, Samvat, 2015.
101. Dvivedi Abhinandana Grantha, Nagari Pracharani, Sabha, Samvat, 1990.
102. Kalikacarya Kathasangraha, Ahmedabad, 1942.
103. Das Kalakacariya Kathanakam, ZDMG, Vol. XXXIV, p. 247-318, Leipzig, 1880.
104. ZDMG, Vol. XXXVII, p. 493-520, Leipzig, 1883.
105. Central Library, Baroda, 1920.
106. Sahitya Darpana, 6. 276-77.
107. Harward University, Cambridge, 1901.
108. University of Calcutta, 1939.
109. Bharatiya Vidyabhavana, Bombay, 1945.
110. Motilal Banarasidas, Benaras, 1955.
111. Edited by Piterson and Ramchand Dinanatha Shastri and published by N. S., Bombay, 1889.
112. Kavyamala series, vol. 8 (Bombay).
113. Puratatvamandir, Ahmedabad, Samvat, 1980, 1982, 1984-5, 1987.
114. Svetambar education Board, 1939.
115. Hemachandracharya Sabha, Ahmedabad, 1922.
116. D. L. Jain Pustakodhar granthamala, Bombay, 1916, 1918.
117. Jinadattasuri Jnanabhandara, Surat, 1933.
118. Published with Svopajnavrtti by Atmananda Sabha, 1927, with Malayagiri-commentary, Hiralal Hansraj, 1910.
119. Prakrit Text Society, Varanasi,
120. Indian Antiquary, Vol. II. p. 166-168, Bombay, 1873.
121. ibid, Vol. iv. p. 59-60, Bombay, 1875.
122. Gottingen, 1879,
123. Bombay, 1880.
124. Calcutta, 1931,
125. Ratlam, 1913-1955.
126. Calcutta, 1923-24.
127. Bombay, 1923-32.
128. P. 93-96, See Prakrit Sāhitya kā Itihāsa of Dr. Jagadishchand Jain, p. 6
129. ibid., pp. 678-79
130. JAOS, 44
131. IHO 1925

## ECONOMIC GROWTH VERSUS ENVIRONMENTAL QUALITY

□ Shiv Prakash Panwar

*(It has become amply clear that there are two ways to ensure environmental security. Firstly, through use of new technologies free of inflicting damage to environment and secondly, change in thinking, behaviour and social attitudes and re-adoption of a life shunning artificiality with maximum emphasis on non-materialism.*

*There should be no conflict with economic reality. Economic growth and environmental imperatives must prosper together, but no economic development at the expense of environment.)*

The quality of environment emerged as a public cause during the early sixties as a result of some of the outstanding publications on environmental crisis. To name a few are : Rachel Carson's "The Silent Spring", Barry Commoner's "The Closing Cricle", and the Club of Romes "The Limits To Growth". These and a few other literary explosions and the almost simultaneous occurrences of several ecological disasters led many to ask : "Economic Growth-at what cost ?

Several economists and ecologists of the earth have prescribed a state of 'no growth' in capital and productive system. Prof. Jay Forrester of MIT, Barry Commoner, Paul and Anne Ehrlich, and D.H. Meadows have predicted that the present course of environmental degradation, will, if continued, destroy the capability of the environment to support a reasonably civilized human society. It is to avert this that they prescribed a "no growth strategy".

"The Limits To Growth" model demonstrated that the growth rates of global resource use and pollution generation have crossed sustainable limits. Without a significant reduction in these flows, an uncontrollable decline in the availability of food, energy and industrial goods could take place in the foreseeable future. The most probable behaviour of the world economy and population given its current structure is "overshoot and collapse" as planetary limits are approached. This is both due to poverty and affluence. Today millions of people are without the basic human needs of adequate food, cloth, shelter and health and are without proper education and employment. This is not only an intolerable situation in human

terms, it also has various environmental consequences. The loss of forest cover, the loss of arable soil, the loss of productivity through disease and malnutrition and increasing pressure on fragile ecosystems which so often result from the poverty are as significant as the pollution created by industrial technology and overconsumption of the affluent society, both lead to the rapid depletion of natural resources.

Environmental impact represents the environmental cost of a given economic process. It gives the amount of an agency external to the eco-system which by intruding upon it, tends to degrade its capacity for introduction of substances, which are foreign to environment, into the natural environment by the production & consumption activities of the human beings; the ever increasing population is using the earth as if its resources are limitless, in its pursuit for economic growth.

The degree of environmental damage associated with economic growth varies among countries according to the development stage, composition of national product, production techniques employed, assimilative and regenerative capability of the environment and peoples' perception of the environmental problems.

It is generally held by many economists that sustained economic growth increases human welfare. Keynes, for example, saw economic growth as a pre-requisite for the good life. But the question arises whether there is a "trade-off" between the rate at which we expand the output of goods and services and the rate at which the quality of the environment deteriorates. The opposition to growth voiced by those who believe there is inevitably a close relation between the rate of growth of GNP and the rate of decay of the environment. However, if it is, it should be seen that a cessation of growth will not provide a solution to the problem. To drop all the way down to a zero rate of economic growth would not stop the rate at which it deteriorates. Even if it is true that a cessation of economic growth would mean a cessation of environmental deterioration, it is not likely that the problem could be solved this way., since it is a word problem. However, if continuing growth means continuing environmental decay, there would seem to be no escape from eventual disaster. If it is possible to bring about appropriate changes in the composition of the growing output and in the technology employed to produce that output, growth in the future may do more to slow the deterioration in the environment than a situation of no growth could, assuming that could be realized in practice.

Sometimes, economic growth can help preserve the environment



(in the absence of economic growth, and other things remained the same, the environmental problems associated with poverty would have been magnified). Also, policies to solve environmental problems can be beneficial to economic growth (e. g. the introduction of some anti-pollution measures might have otherwise been neglected).

Our most important task is to get off our present collision course. We must thoroughly understand the problem and begin to see the possibility of evolving a new life-style, with new methods of production and new patterns of consumption : a life-style, designed for permanence. In agriculture and horticulture we can interest ourselves in the perfection of production methods which are biologically sound, build up soil fertility, produce health, and permanence. Productivity will then look after itself. In Industry, we can interest ourselves in the evolution of small scale technology, relatively non-violent technology, "technology with a human face."

Continued economic growth and the associated increases in standard of living are consistent with improvements in environmental quality&use of environmental resources. It has become amply clear that there are two ways to ensure environmental security. Firstly, through use of new technologies free of inflicting damage to environment, and secondly, change in thinking, behaviour and social attitudes and re-adoption of a life shunning artificiality with maximum emphasis on non-materialism.

There should be no conflict with economic reality, economic growth and environmental imperatives but they must prosper together economic development not at the expense of environment. For this, economists today prescribe a policy of "sustainable growth" for global equilibrium, from an ecological and economic point of view. The concept of sustainable growth encompasses the necessity of continued growth to meet basic human needs around the globe while emphasizing the fact that this growth should be of such a nature that it can be sustained indefinitely by respecting nature's boundary conditions. Sustainability in terms of environmental quality depends on the composition of the basket of goods and services, which changes in response to consumer preferences, perceived resource of environmental constraint and technological capacities. Unsustainable high rates of growth use renewable resources beyond their rates of potential regeneration destructing forests, mining soil, and polluting rivers and lakes beyond redemption. To be precise sustainable growth implies compatibility with limitations of natural resources and

environmental absorption capacities.

The recent report of the world commission on Environment and Development emphasized a notion of "sustainable development", which perceives environmental considerations as an integral part of the developmental process.

The efforts must be made to rectify the present imbalance created by the developed countries by their affluent styles of production and consumption, which have placed the developing countries in a disadvantageous position; that it was the prime responsibilities of the developed nations to take corrective action to check further degradation of the environment. In developing economies the nature of environmental problems fundamentally differ from that of the developed economies. The most important difference is that the Third World is not merely worried about the quality of life. It is worried about life itself. Hence development is considered a cure for environmental problems in developing countries.

The Government of India's national report makes it clear that poverty was the most important issue, which needed most urgent action at the global level in order to evolve a strategy for sustainable development where economic development should come with minimum damage to environment and that the developing countries should not repeat the mistakes committed by the West.

Hence we conclude that economic growth and improvement in environmental quality are not only not necessarily inconsistent but may be mutually reinforcing.

#### References :

1. Karpagam M. : "Environmental Economics", Sterling Publisher Pvt. Ltd. Delhi. 1991.
2. Schumacher E. F. : "Small is Beautiful", Harper and Row Publishers, Inc. (New York) 1973.
3. Shapiro Edward : "Marco Economic Analysis" Harcourt Brace Jovanovich, Inc. (New York).
4. Rajashekhar C. V. : "Global Environment Series : Environment Policy and Development Issues (Ed.) Discovery Publishing House, Delhi, 1992.
5. Bandhu Desh & Chouhan Eklavya : "Current Trends in Indian Environment", Today and Tomorrow's Printers, Delhi 1990.
6. Kumar Ashok : "Human Resource Development," Ed. : Anmol Publications, Delhi-1991.
7. Asthana Vandana : "The politics of Environment" Ashish publishing House, Delhi-1992,

# Book Review

**PRĀCĪNA ARDHAMĀGADHĪ KĪ KHOJA MEN :** By K. R. CHANDRA, Former Head of the Department of Prākṛit and Pāli, Gujarat University, Ahmedabad, Pub : Prākṛit Jain Vidya Vikas Fund, Ahmedabad, 1991, pp. 112, Price : Rs. 32/-.

This trail-blazing work on reconstitution of original Ardha-Māgadhī (AMG) Canon is based on years of careful and painstaking research.

Religious-minded Śvetāmbara Jain community donated munificent grants for the publication of their sacred Canons. It may be due to the manuscripts material (Critical apparatus) available to the editor, and/or his insufficient grounding in textual criticism or text-constitution or a deliberate attempt at simplification of the text (as noted by Muni Puṇyavijayajī in his edition of the *Kalpa Sūtra*) that we find confusing readings in editions of the Canon.

With due respect to the editors of the following editions, I give an example of the AMG formations of the Sk word श्वेतज्ञ as found in different editions : (See pp. 15-93) from the book under review)

(1) श्वेयन्न (W. Schubring)

(2) श्वेयन्न (9 times) and श्वेयण (7 times) in the Āgamodaya Samiti Ed.

(3) श्वेयन्न (1), and श्वेयण (15) in Jain Vishva Bhāratī Ed.

(4) श्वेयण (2), श्वेतण (6), श्वेतण (8) in Mahāvīra Jain Vidyālaya Ed.

The variants of this word in the Mahāvīra Jaina Vidyālaya Ed. are as follows : श्वेतण, श्वेदन्न, श्वेदण, श्वेयन्न, श्वेजन्न

This confusing variety is not limited to forms of words only but even to sentences. For example (pp. 94-98 of the book under review) the very first sentence of the *Ācārāṅga Sūtra* (which is found at the beginning of other works) is seen as follows :

(१) सुयं मे आउसं ! तेणं भगवता एवभवखाय.....

—*Ācārāṅga Sūtra*

(२) सुतं मे आउसंतेणं भगवता एवभवखातं.....

—*Sūtrakṛtāṅga Sūtra*

Finding such a chaotic state of the sacred Āgama, Dr. Chandra became “haunted” with the idea of restitution of the original texts. He published a number of papers in order to invite the attention of scholars to this linguistically anomalous state of the sacred texts.

The present book is a collection of some of his papers on this subject. In the first chapter Dr. Chandra illustrates the linguistic anomaly in the published editions of the Canon.

In the second chapter, Dr. Chandra discusses what he regards as the main features of old AMG. Common features in Pāli and AMG. may indicate some of the characteristics of the language of ancient Magadha and/or Kosala. We can accept case terminations like Instr. Pl. —*bhi*, Dat. Sg. —*āya*, Loc. Sg. —*ssim* or the derivatives from Vedic forms as old AMG. This whole chapter deserves careful study.

Although I do not agree with the date assigned to the Pataliputra Vācanā, I accept that it was the first Vācanā. (Dr. Chandra assigns 4th Cent. B.C. vide p. 59, Footnote 1, according to Max Mullar's "Sheet anchor of Ancient Indian Chronology", on the basis of Brahmanical Mahāpurāṇas, Candragupta Maurya was coronated in 1530 B.C. which I follow) But that does not affect the historicity of the first Vācanā at Pataliputra. I, however, doubt whether the AMG Canon was settled in that Vācanā or whether some time later but before Māthuri Vācanā. We come cross references to the Vācanā at Māthur. I wish to know if there are references to Pātaliputra Vācanā in the Canon. The same is the case with the Pali Canon. Although Mahā Kassapa took the lead to collect the *Buddha Vacana* in the 1st Sangīti at Rājagṛha, scholars do not believe that the present Pali Canon is the same as in the first Sangīti at Rājagṛha.

Apart from this, Dr. Chandra deserves our thanks for collecting linguistically interesting and important material in this chapter. There is no doubt that AMG was an East Indian language, though its name is rather enigmatic. Geographically it is supposed to belong to a "Half of Magadha". But which Half? And what language was spoken in the other half of Magadha? Linguistically AMG does not share the differentia of Māgadhī viz. the change of Sk. Ṣ, Ś, S to Ṣ and uniform change of Sk. R to L. Hemacandra rightly calls it ĀRṢA. Pali and AMG are like the Sindhu and the Brahmaputra. They rise from the Mānasa Lake, but flow in different directions. The same had happened in the case of Pali and AMG. They belonged to practically the same region. But Pali was fortunate to get royal support and was preserved better. When it came to be fixed at the time of king Kaṇiṣka in Kashmir, its linguistic form remained more ancient. The history of Pali does not mention or reflect the effect of the great famine in the reign of Chandragupta Maurya, Jain

sages depending on public support had to migrate and those sages who remained behind retained with difficulty their Canon. The influence of Mahārāshtri on AMG is due to the westward migration of the Magadhan Sages. Pali also did not retain its pristine purity as the influence of Paiśāci on it shows. Hence the acceptance of Pali for ascertaining old AMG. needs some caution. I write this for young scholars. Dr. Chandra has correctly traced the old AMG form for, Kṣetrañña. His attempt to trace old AMG., on the basis of available material in Chapter eight is worth careful study.

Dr. Chandra has taken enormous trouble for this guide to the next generation. Generations of scholars will remain indebted to him for this beacon of linguistic research.

I take this opportunity to place before the scholarly world the need of a critical edition of the AMG Canon. The present editions as amply demonstrated by Dr. Chandra, are not that satisfactory. Fortunately Gujarat and Rajasthan have a good tradition of preserving ancient MSS. There are eminent scholars and Ācāryas who can competently bring out such a reliable critical edition of the canon. Formation of such a Research Institute will be the real fruit of the labour of persons like Dr. Chandra. The Trustees of Seth Kastur bhai Lalbhai Trust deserve the thanks of the scholarly world for their donation of a publication grant to this valuable work.

—G. V. Tagare

## THE AWAKENING OF INDIA'

(A happy solution)

*[India seems to be the only field where any practical solution can be worked out. The two countries which may be taken respectively the representatives of the West and the East, America and Japan are peculiarly unfit to solve the problem for the simple reason that they are actively contributing towards the complexity of the situation by their mutual jealousy and clash of interests.]*

The Romans were conquered by the Teutonic Barbarians. Similarly modern Europe would be an easy prey to the Asiatics. Negroes will be the last inheritors of the Earth. Again there was the talk of the 'Yellow Peril' invented by the interested German statesmen of the last generation. The white man's burden and the 'yellow peril' were the fixed ideas of Europe two decades ago. But the great war has changed all things. The great gifted European statesmen have enunciated in unmistakable terms the so-called principle of self-determination. They can no more retrace their steps than the earth could retrace its course in its orbit. A new idea and a new hope is given to the world at large. As a corollary of the above principle there is theory of Asia for the Asiatics. This cry may become more than mere empty ideal under the Hegemony of Japan. So long as racial feeling remain a chronic disease of European politics there could be no permanent peace for the world. Unless things improve within a few decades there may be a great war of the races, white against the coloured. This war may be worse than the one from which the world has just now escaped, because the future one would have in addition to all implements of destruction the racial animosity to boot. Diplomats may put off such a world calamity for a while. Still that is no permanent solution of the problem. There could be no permanent peace for the world. India seems to be the only field where any practical solution can be worked out. The two countries which may be taken respectively the representatives of the West and the East, America and Japan are peculiarly unfit to solve the problem for the simple reason that they are actively contributing towards the complexity of the situation by their mutual jealousy and clash of interests. Hence it is given to England and *India* to discover a new mode of political adjustment and

harmony. We are too far off to sketch in detail what this would be. But we know this much that this future political idea will not be merely an offshoot of the economic and industrial policy, which is now pursued by the European nations. They will forget the cant that all countries besides themselves are markets created by a Divine Providence for their manufactured articles. International politics will cease to be a chess play of capitalists. The democracies of the world will once for all realise that 'man does not live by bread alone.' Politics will sever its connection with Economics and get in to an alliance with Ethics. The evolution of this ethicalised politics is the peculiar privilege of the Indo-British statesmen who will control, not only the reconstruction of India but also the destinies of the British Empire. This is not merely a dream but a matter of practical politics. The wisdom and foresight of the statesmen concerned are already brought into play with reference to Indian affairs. A happy solution of this may be opening page in the future history of the world.

—Prof. A. Chakravarty

The man who simply reacts remains unbalanced. A balanced mind does not take sides. He is above favouritism, likes and dislikes and sweetness and bitterness.

—Yuvacharya Mahaprajna

लेखक

## The Contributors

१. डॉ० परमेश्वर सोलंकी, संपादक, तुलसी प्रशा, लाडनूं ।
२. डॉ० कमला पंत, मोती सदन, तल्लीताल (नैनीताल)—२६३००२
३. डॉ० सागरमल जैन, निदेशक, पार्श्वनाथ शोधपीठ, वाराणसी-५
४. डॉ० केशव प्रसाद गुप्त, ग्राम-पो० चरबा, इलाहबाद-२१२२०३,
५. डॉ० हरिशंकर पांडेय, व्याख्याता-प्राकृत, जैन विश्व भारती इस्टीट्यूट, लाडनूं,
६. श्री राजवीर सिंह शेखावत, दर्शन विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर-४
७. मुनिश्री विमल कुमार, शिष्य युगप्रधान आचार्यश्री तुलसी ।
८. डॉ० श्रीमती आशालता मलैया, अध्यक्षा, संस्कृत विभाग, शासकीय कन्या महाविद्यालय, सागर (म. प्र.) ।
९. मुनिश्री सुखलाल, शिष्य युगप्रधान आचार्यश्री तुलसी ।
१०. श्रीमती सुशीला चौहान, अध्यक्षा, दर्शन विभाग, डूंगर महाविद्यालय, बीकानेर ।
११. पं० अमृतलाल शास्त्री, प्रवक्ता, ब्राह्मी विद्यापीठ, लाडनूं ।
12. Dr. Bhagchandra Jain 'Bhaskar', Sadar, Nagpur.
13. Shri Shiv Prakash Panwar, Lecturer, Jain Vishva Bharati Institute, Ladnun.
14. Dr. G.V. Tagare, A-4, Paranjpe Housing Scheme Madhavnagar-Road, Sangali—416416.
15. Shri Ramswaroop Soni, Jain Vishva Bharati Institute, Ladnun.
16. Prof. A. Chakravarthy, Mukkdai, Jain Youth Forum, Madras—17.



## दुर्लभ और संग्रहणीय

'तुलसी प्रज्ञा' के अनेकों/दुर्लभ अंक पुरानी दरों पर विक्रय हेतु उपलब्ध हैं। खण्ड-१७ के चारों अंक ४५/- रु० में और शेष ३५/- रु० वार्षिक अथवा प्रति अंक १०/ रु० में देय हैं।

कृपया शुल्क तथा पेकिंग और पोस्टल रजिस्ट्रेशन के लिए दस रुपये अग्रिम भेजें और इस सुविधा से लाभ उठावें।

विशेषांकों के लिए प्रति अंक पच्चीस रुपये और पोस्टल रजिस्ट्रेशन शुल्क भेजें।

—संपादक, तुलसी प्रज्ञा  
जैन विश्व भारती, लाडनू-३४१३०६

Registration Nos. [

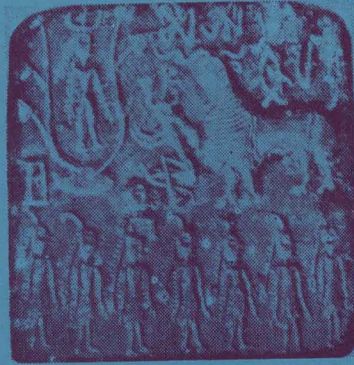
Postal Department : NUR—08  
Registrar of Newspapers for India : 28340/75

Vol. XVIII

TULSI-PRAJÑĀ

1992-93

## ऋषभदेव मुद्रा



कायोत्सर्ग के साथ वृषभ मोहेनजोदड़ो-खोदाई में प्राप्त  
(लग० पांच हजार वर्ष प्राचीन)

प्रकाशक-मुद्रक : रामस्वरूप गर्ग द्वारा जैन विश्व भारती, लाहन्-३४१३०६ के लिये  
जैन विश्व भारती प्रेस, लाहन् (नागौर) में मुद्रित । संपादक : डॉ० परमेश्वर सोलङ्की